
DURGA SAH MUNICIPAL LIBRARY
NAINI TAL
दुर्गासाह म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनीताल
Class no. 920
Book no. P21M
Reg no. 4917

महान् पाश्चात्य शिक्षा-शास्त्री

प्राक्कथन-लेखक

प्रोफेसर पी० एस० नायडू

अध्यक्ष, पोस्ट-ग्रेजुएट स्टडीज़ तथा रिसर्च

विद्याभवन, उदयपुर

लेखक

एस० के० पाल

एम० ए०, एम० एड्०

असिस्टेंट प्रोफेसर शिक्षा विभाग,

प्रयाग विश्वविद्यालय



प्रकाशक

गर्ग-ब्रदर्स

पो० ब० ६६, १, कटरा रोड, प्रयाग

प्रकाशक
गर्ग ब्रदर्स
प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० मार्च सन् १९५८
मूल्य ४)

आर यन० गर्ग द्वारा गर्ग प्रेस, प्रयाग, उ० प्र०, भारत में मुद्रित

FOREWORD

I have pleasure in writing a few lines by way of foreword to Shri S. K. Pal's "Mahan Paschatya Shiksha-Shastri". This work is, I believe, the first of its kind in Hindi, and deals with the educational ideas of Plato, Rousseau, Pestalozzi, Froebel, Dewey and other leading western educators. The treatment is systematic and critical, and the language is simple. The author has made a laudable attempt to present the philosophical foundations of the theory of education Propounded by each educator, to evaluate these critically and to trace their influence on modern trends in education. He has made use of original sources as far as possible. Pictures of the educators lend added charm to the book. The book is eminently suitable for undergraduates as well as graduate trainees in Teachers' Colleges. I am sure it will get the generous reception that it deserves.

Head of the Dept. of
P. G. Studies & Research
Vidya Bhavan
Udaipur
6-3-58

P. S. Naidu

प्रिय छात्रों को

समर्पित

आमुख

शिक्षा-शास्त्र में पाश्चात्य-शिक्षा-शास्त्रियों के ऊपर हिन्दी में लिखी हुई पुस्तकों का पूर्ण अभाव है। इसके कारण बी० ए० के छात्रों को तद्विषयक कठिनाई भी पड़ती है। विश्वविद्यालय में गत कई वर्षों से अध्यापन कार्य करने में मेरे समक्ष यह कठिनाई प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित हुई। विद्यार्थियों की कठिनाइयों के अलावा एक अन्य समस्या भी शिक्षा के इस क्षेत्र में है और वस्तुतः वह सबसे बड़ी समस्या है। यह समस्या है वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से लिखी हुई पुस्तक की। इसे ध्यान में रखकर प्रस्तुत पुस्तक की रचना की गई है जिससे विषय का स्पष्टीकरण उचित ढङ्ग से हो और विद्यार्थियों को विभिन्न शिक्षा-शास्त्रियों के विषय में तत्कालीन परिस्थितियों के साथ-साथ समुचित ज्ञान प्राप्त हो।

विषय के प्रतिपादन में जहाँ तक हो सका है प्रत्येक शिक्षा-शास्त्री की मूल-पुस्तकों का प्रयोग किया गया है और उन्हीं में से उद्धरण भी दिए गए हैं जिससे उनके यथार्थ विचारों का ज्ञान हो। मूल-ग्रन्थों से उद्धरण देने के कारण पारिभाषिक शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है जिसके कारण भाषा कुछ क्लिष्ट हो गयी है, फिर भी मेरा प्रयत्न यही रहा है कि विचारों को स्पष्ट रीति से प्रकट करूँ और यथाशक्ति मैंने किया भी है। मेरा प्रयास कहाँ तक सफल रहा यह विद्यार्थीगण तथा शिक्षा-शास्त्र के अध्यापक निर्णय करेंगे।

अपने सहयोगी प्रोफेसर श्री लक्ष्मी नारायण गुप्त तथा मेरे प्रिय छात्र श्री प्रह्लाद चन्द्र राजवेदी ने पुस्तक को प्रस्तुत करने में मुझे बड़ी सहायता दी है। मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ। सम्भवतः महान् शिक्षा-

शास्त्रियों की कृतियाँ भी सम्मान और कृतज्ञता की अपेक्षा रखती हैं जिनकी सहायता उद्धरण रूप में ली गई है। अन्त में मैं उन सज्जनों का भी आभारी हूँगा जो अपने उपयोगी सुझावों के द्वारा पुस्तक की कमी को दूर करने का कष्ट करेंगे जिससे भविष्य में इसकी उपादेयता विशेष रूप से हो।

आशा है, छात्रवृन्द के लिए पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी और तभी मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

शिक्षा विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय
मार्च, १९५८ } एस० के० पाल

विषय-सूची





प्लेटो (४२८ ई०पू०–३४८ ई०पू०)

"संसार के पापों का विनाश तभी सम्भव है जब सच्चे दार्शनिकों के हाथ में राज्य की डोर होगी अथवा जब राजनीतिज्ञ किसी चमत्कार द्वारा सच्चे दार्शनिक बन जायँगे।"

—प्लेटो

अध्याय—१

प्लेटो

(४२८ ई० पू०—३४८ ई० पू०)[१]

भूमिका

समय की दृष्टि से सर्वप्रथम प्लेटो के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का अध्ययन समीचीन होगा। पाश्चात्य शिक्षा के इतिहास में प्लेटो का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि प्लेटो की मृत्यु हुए लगभग दो हजार तीन सौ वर्ष बीत गये हैं तथापि आज भी लोगों पर उनके विचारों का प्रभाव कम नहीं हुआ है। उनके विचारों ने अनेक व्यक्तियों को नवीन चेतना प्रदान की है। साथ ही उनके द्वारा कतिपय व्यक्तियों के मन में असन्तोष की लहरें भी उत्पन्न हुई हैं। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सम्पूर्ण शिक्षा-शास्त्र एवम् शिक्षित मनुष्यों के जीवन और विचारों पर उनका प्रभाव बहुत गहरा पड़ा है। प्रत्येक विचारक पर अपने काल का प्रभाव कम या अधिक अंश में अवश्य पड़ता है, यह बात बड़े से बड़े विचारकों के लिए भी सत्य है। अतः

१—इन तिथियों के विषय में विभिन्न लेखकों में मतभेद है। उपर्युक्त तिथियाँ 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' से उधृत की गई है।

प्लेटो के शिक्षा सम्बन्धी विचारों के अध्ययन करते समय ग्रीक जीवन, तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियाँ एवम् शिक्षा के उद्देश्य तथा उनके स्वरूपों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

पृष्ठभूमि

प्राचीन ग्रीस, वास्तव में, एक छोटा किन्तु अत्यन्त मनोरम देश था। सम्पूर्ण देश छोटी-छोटी पहाड़ियों से घिरा हुआ था तथा उसकी भूमि कंकरीली और पथरीली थी। भूमि की नैसर्गिक सुन्दरता ने देशवासियों के मन को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। सम-शीतोष्ण जलवायु ने उनके हृदय में प्रसन्नता की लहर उत्पन्न की थी तथा संतुलित वायु ने उनके विचारों में संतुलन एवम् समता उत्पन्न करने में अपना महान योग दिया था। राजनीतिक दृष्टि से सम्पूर्ण ग्रीस अत्यन्त छोटे-छोटे शहरी राज्यों (City states) में बँटा हुआ था। ये राज्य कभी-कभी व्यक्तिगत अथवा राज्यगत् वैमनस्य के कारण अथवा अपने पराक्रम को प्रदर्शित करने के लिए परस्पर युद्ध कर लिया करते थे। फारस देश के निवासियों के आक्रमण करने पर जिस प्रकार कई शहरी राज्यों ने आपस में मिलकर एक शक्तिशाली प्रतिरक्षा संघ की स्थापना की थी उसी प्रकार ये शहरी राज्य बड़े-बड़े भीषण आक्रमण के खतरों की सम्भावना के समय आपस में मिलकर एक जबरदस्त प्रतिरक्षा संघ स्थापित कर लिया करते थे। इन राज्यों में दो राज्य अत्यन्त महत्वपूर्ण माने गए हैं क्योंकि उन्हीं दोनों राज्यों में ग्रीक शिक्षा का उद्‌भव और विकास हुआ था। तत्कालीन ग्रीक शिक्षा का रूप हमें इन्हीं राज्यों में देखने को मिलता है। अतः हम केवल इन्हीं दोनों महत्वपूर्ण राज्यों पर ही विस्तृत रूप में विचार करेंगे। वे दोनों राज्य हैं स्पार्टा और एथेन्स।

ग्रीस की भौगोलिक तथा राजनीतिक स्थिति

स्पार्टा के नागरिक दुश्मनों से घिरे हुए थे जिसके कारण उनमें सदैव आक्रमण का भय बना रहता था। उन लोगों को अपने शत्रुओं को पराजित करने की चिन्ता प्रतिक्षण चिन्तित किये रखती थी। आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए सम्पूर्ण स्वतंत्र स्पार्टावासियों के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वे राज्य की सैन्य शक्ति को संगठित करें। इसके अतिरिक्त उनके लिए यह भी आवश्यक हो गया था कि वे ऐसी शिक्षा योजना का निर्धारण करें जो कि देश की सैन्य शक्ति की समृद्धि के लिए अत्यन्त शक्तिशाली सैनिक तथा उच्चकोटि के देशभक्त उत्पन्न कर सके। धैर्य, शक्ति, सहनशीलता तथा आज्ञापालन आदि उनके शिक्षा के आदर्श निर्धारित किए गए। फलस्वरूप शिक्षा विषय तथा शिक्षा-प्रणाली आदि से अंत तक सैनिक मान्यताओं से ओतप्रोत थी। मानसिक शिक्षा की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया था। स्पार्टा की शिक्षा प्रणाली का एकमात्र उद्देश्य राज्य सेवा था। सम्पूर्ण शिक्षा योजना राज्य की ओर से ही परिचालित की जाती थी। एक समाजवादी राज्य में शिक्षा के पूर्ण राज्य-नियंत्रण का यह एक अत्यन्त ज्वलंत उदाहरण है। वर्तमान समय में इस प्रकार राज्य द्वारा परिचालित शिक्षा योजना का रूप हम नाज़ी जर्मनी तथा फासिस्ट इटली में देख सकते हैं।

स्पार्टा की शिक्षा

स्पार्टा के विपरीत एथेन्स एक अधिक प्रगतिशील राज्य था तथा वहाँ आक्रमण संघर्ष की समस्या स्पार्टा के समान अत्यन्य महत्वपूर्ण और आवश्यक न थी। उसके नागरिक युद्ध की अपेक्षा शांति को अधिक पसन्द करते थे। अतएव वे शांति की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बनाए जाते थे। राज्य का यह सदा प्रयत्न होता था कि वे अपने नागरिकों को एक सुसंयत मनुष्य बना सकें। साधारणतः एथेन्स की शिक्षा दो कालों में विभक्त की जाती है एक तो प्राचीन एथेन्स की शिक्षा जो कि फ़ारसीय युद्ध (४७६ ई० पू०) के समय तक प्रचलित थी तथा दूसरी एथेन्स

एथेन्स की शिक्षा का रूप

की नवीन शिक्षा जो कि एथेन्स की उन्नति की पराकाष्ठा के समय तथा उसके बाद तक प्रचलित थी। हम इन दोनों रूपों पर अत्यन्त संक्षिप्त रूप में क्रमानुसार विचार करेंगे।

स्पार्टा की शिक्षा की अपेक्षा प्राचीन एथेन्स की शिक्षा का उद्देश्य एवं विषय अत्यन्त व्यापक था। उसने समाज तथा शिक्षा में प्रजा-

प्राचीन एथेन्स की शिक्षा

तन्त्रात्मक आदर्श उपस्थित करने में एक अद्भुत प्रगति उपस्थित की थी। एथेन्स की शिक्षा में मानसिक योग्यता से युक्त सौन्दर्य-प्रिय तथा शारीरिक एवं सैन्य गुण-सम्पन्न युवकों के उत्पन्न करने की योजना थी। यद्यपि कुछ सीमा तक शिक्षा राज्य पर आधारित थी किन्तु संपूर्ण रूप से एथेन्स में शिक्षा राज्य अथवा जनता की सीमा से परे थी। राज्य शिक्षार्थियों से संगीत तथा व्यायाम की अपेक्षा करता था। इसी कारण से उसने शिक्षा में इन दोनों का स्तर निर्धारित कर दिया था, किन्तु बालकों की शिक्षा का संचालन परिवार द्वारा ही होता था।

फ़ारसीय युद्ध के पश्चात् एथेन्स के समाज में राजनैतिक, आर्थिक तथा दार्शनिक विचारों के क्षेत्र में क्रान्तिकारी नवीन परिवर्तन हुए।[१]

फ़ारसीय युद्ध के पश्चात् एथेन्स की शिक्षा

इन आश्चर्यजनक परिवर्तनों के कारण प्राचीन शिक्षा पद्धति एवं प्रणाली महत्त्वहीन प्रतीत होने लगी तथा उसके पुनर्निर्माण का प्रयास भी आरम्भ होने लगा। शिक्षा का आदर्श बहुत सीमा तक व्यक्तित्व के महत्त्व पर केन्द्रित हो गया। राज्य के महत्त्व की अपेक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व पर अधिक जोर दिया जाने लगा। व्यक्तिगत प्रसन्नता एवम् सम्पन्नता पर प्रशिक्षण के आयोजन की आवश्यकता का अनुभव किया

१—राजनैतिक-प्रजातन्त्रवाद का सूत्रपात तथा विकास; आर्थिक-धन में वृद्धि; दार्शनिक-अन्तर्निरीक्षण मनोविज्ञान का विकास तथा अन्तर्निहित मानसिक विचारों को प्रदर्शित करने वाले दर्शन की प्रतिष्ठा।

जाने लगा। शिक्षा के क्षेत्र में इस महत्त्वपूर्ण प्रगति के समक्ष प्राचीन-शिक्षा व्यक्तित्वहीन एवं संकुचित प्रतीत होने लगी तथा व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास के लिए प्रत्येक प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता जान पड़ी। राजनीति के क्षेत्र में व्यक्तिगत महत्त्व को अप्रत्याशित स्थान मिलने के कारण व्यक्ति को वाद-विवाद तथा जन-सम्पर्क में निपुणता प्राप्त कराने की आयोजना होने लगी।

उपरोक्त नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये 'सोफिस्ट' नामक अध्यापकों का दल बहुत ख्याति प्राप्त करने लगा। इन 'सोफिस्ट' अध्यापकों की यह धारणा थी कि वे किसी भी व्यक्ति को कोई भी विषय पढ़ा सकते हैं तथा अपनी शिक्षा द्वारा वे नवयुवकों को जीवन में कठिन कार्य करने के योग्य बना सकते हैं। इस प्रकार इन सोफिस्टों ने शिक्षा के क्षेत्र में एक नई आवाज़ उठाई तथा व्यक्तिगत महत्त्व को चरमावस्था में ला बिठाया।

सोफिस्ट

इन परिवर्तित विचारधाराओं के होते हुये भी दूसरी ओर रूढ़िवादी विचारधारा भी पनप रही थी। इन रूढ़िवादियों का विचार था कि हमें 'प्राचीनता की ओर लौटने' में ही लाभ है, अर्थात् शिक्षा का नियंत्रण राज्य द्वारा ही हो। व्यक्ति एवं समाज के आवश्यक सामंजस्य की स्थिति को प्राप्त करने के लिए कुछ योजनाओं का निर्माण आपेक्षित था। महान विचारक प्लेटो उन विचारकों में से थे जो व्यक्तिवाद एवं समाजवाद में सामंजस्य स्थापित करने में सहायक हुये।

व्यक्तिवाद एवं समाजवाद में सामंजस्य

प्लेटो का जीवन तथा शिक्षा सम्बन्धी रचनात्मक कार्य

प्लेटो का जन्म ४२८ ई० पूर्व एथेन्स में हुआ था। वह एरिस्टोन एवम् पेरिक्टोन का पुत्र था। उसका परिवार एथेन्स के विख्यात् परिवारों में से एक था। वह जन्म एवं प्रवृत्ति से धनी था। इसी कारण

साधारणतया सभी व्यक्तियों से मिलना उसे पसन्द नहीं था। बाल्यावस्था में ही उसकी रुचि एवं आदतें विलक्षण थीं। वह सम्भ्रान्त परिवार का असाधारण रूप से विकसित बालक था। यही कारण था कि उसने प्रारम्भ में ही ग्रीक साहित्यकारों यथा होमर आदि कवियों की रचनाएं पढ़ डाली थीं। प्लेटो प्रथम श्रेणी का खिलाड़ी था। उसने स्वास्थ्यरक्षा एवं शारीरिक विकास की शिक्षा प्राप्त की थी। एक बार वह मल्ल प्रतियोगिता में विजयी भी हुआ था। वह एक वीर एवम् सुदृढ़ योद्धा था। उसे साहित्य से भी पर्याप्त रुचि थी। उसने कई सुन्दर कविताएँ भी लिखीं थी। उसने राजनीति के क्षेत्र में भी अपनी रुचि प्रदर्शित की किन्तु राजनीतिक व्यक्ति के रूप में पूर्ण रूपेण सफल न हो सका।

बीस वर्ष की अवस्था में उसने सुकरात (Socrates) से भेंट की तथा लगभग आठ वर्षों तक उसके सम्पर्क में रहा। किशोर एवम् प्रौढ़ अवस्था में उसके मस्तिष्क पर सबसे अधिक प्रभाव सुकरात का पड़ा। उसके शिक्षा सम्बन्धी विचारों पर सुकरात, सोफिस्टों, स्पार्टा की शिक्षा पद्धति तथा एथेन्स की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का विशेष प्रभाव पड़ा। सुकरात की मृत्यु के पश्चात् अत्यन्त क्षुब्ध एवम् व्यथित प्लेटो ज्ञान की खोज में इधर उधर परिभ्रमण करता रहा। उसने मिश्र, सिसली, सीरिया, मेगारा, तथा इटली की यात्रा की। यात्रा की इस लम्बी अवधि को उसने अध्ययन, मनन, लेखन तथा तत्कालीन प्रमुख व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने में व्यतीत किया। एथेन्स लौटने के पश्चात् उसने एक शिक्षा समिति (Academy) (३८६ ई० पू०) में खोली तथा उसमें जीवन पर्यन्त अध्यापन का कार्य करता रहा। इस शिक्षा समिति का द्वार महिलाओं तथा पुरुषों दोनों के लिए खुला था तथा इसमें दर्शनशास्त्र, गणित तथा विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। मानव विज्ञान के अध्ययन के लिए एक स्थायी संस्था के रूप में प्लेटो ने जो शिक्षा समिति की स्थापना की वह सही माने में प्रथम विश्वविद्या-

लय की स्थापना थी। प्लेटो का साहित्यिक जीवन उसके जीवन के अधिकांश भाग तक चला और उसने अनेक पुस्तकों की रचना की। अपनी मृत्यु के दिन तक वह अध्यापन और लेखन का कार्य करता रहा। उसकी मृत्यु ३४८ ई० पू० में ८० वर्ष की दीर्घायु के पश्चात् हुई।

प्लेटो सभी काल के विचारकों में एक श्रेष्ठ मौलिक और बृहद् दृष्टिकोण रखने वाला विचारक माना जाता है। शिक्षा संबन्धी विचार उसकी प्रसिद्ध पुस्तकों में पाये जाते हैं। वे पुस्तकें हैं 'दी रिपब्लिक' (The Republic) और 'दी लाज़' (The Laws) जो कि वार्तालाप[1] के रूप में हैं।

शिक्षा सम्बन्धी रचनाएँ

रूसो ने ठीक ही कहा था कि 'दी रिपब्लिक' शिक्षा की सर्वश्रेष्ट पुस्तक है। 'दी लाज़' जो की प्लेटो ने अपनी वृद्धावस्था में लिखी थी उसकी सबसे बृहद् और अत्यन्त व्यावहारिक कृति है। इसमें नीतिशास्त्र और शिक्षा दोनों ही पर उसके सर्वश्रेष्ठ विचार संग्रहित हैं।

प्लेटो का दर्शन

प्लेटो के शिक्षा सम्बन्धी विचार उसके दार्शनिक विचारों पर आधारित हैं। उसके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को भली-भांति तथा अपनी प्राकृतिक अवस्था में और पूर्ण एवम् शुद्ध रूप में ज्ञात करने के लिए उसके दार्शनिक सिद्धान्तों के विकास का अध्ययन करना आवश्यक है, अन्यथा हम उसके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों के वास्तविक महत्व को न समझ सकेंगे। अतएव हम प्लेटो के प्रधान दार्शनिक संकेतों पर विचार करेंगे।

दार्शनिक विचारों का महत्त्व

१—प्लेटो की अधिकांश कृतियाँ वार्तालाप के रूप में हैं। प्रश्न और उत्तर की इस पद्धति की ओर वह सुकरात के कारण आकृष्ट हुआ था।

प्लेटो को एक आदर्शवादी दार्शनिक की संज्ञा दी गई है क्यों कि उसके विचार से 'विचारों का जगत ही वास्तविक और सत्य है'।

आदर्शवाद

उसके इस विचार-प्रियता के कारण, उसके दर्शन के कुछ विद्यार्थी उसे 'विचारवादी' कहना उचित समझते है। उसका यह विचार था कि यह भौतिक जगत जिसको हम प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा देखते, स्पर्श करते एवम् अनुभव करते हैं, मिथ्या भ्रम मात्र है। यह सम्पूर्ण प्रत्यक्ष जगत त्रुटि दोष से पूर्ण विकृतावस्था में है। अतएव प्लेटो एक ऐसे सत्य एवम् महिमांडित जगत् की कल्पना करता है जिसमें वास्तविक चीजें प्राप्त की जा सकती हैं। इस जगत को वह 'विचारों की दुनियाँ' कहता है। इस जगत में हम उन समस्त वास्तविक एवम् आदर्श वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं जिसकी प्रतिछाया हम प्रत्यक्ष जगत में देखते हैं। ये वस्तुयें अपने में पूर्ण, अपरिवर्तनशील, चिरंतन एवम् शाश्वत हैं। अतएव प्लेटो के विचार में वास्तविक जगत् अपरिवर्तनशील शाश्वत एवम् शुद्ध अनन्त विचारों से परिपूर्ण है।

प्लेटो के अनुसार आत्मा अमर एवम् शाश्वत है। शरीर में आने से पूर्व भी उसका अस्तित्व रहता है। आत्मा शरीर में आने से पूर्व

आत्मा की अमरता

ज्ञानयुक्त रहता है। यह आत्मा उस परम विवेक का एक अंश है, जिसे विश्व के सम्पूर्ण अनन्त सत्यों का ज्ञान रहता है। शरीर के नष्ट हो जाने के उपरांत भी आत्मा की स्थिति यथावत बनी रहती है। अतएव आत्मा अपने में पूर्ण स्वतन्त्र है। आत्मा की अमरता, अनश्वरता एवम् शाश्वत रूप प्लेटो के दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है।

प्लेटो उन प्रथम दार्शनिकों में से था जिसने ज्ञान के सिद्धान्त को शुद्ध एवम् पूर्ण रूप से प्रतिपादित किया। उसका विचार था कि हम

ज्ञान का सिद्धान्त

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा शुद्ध ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकते। मनुष्य को ज्ञानेन्द्रियों से परे विचारों की दुनियां में भ्रमण

करना चाहिये। ये विचार अनुभव द्वारा नहीं प्राप्त किये जा सकते। प्लेटो के अनुसार आत्मा इन सत्य विचारों से मंडित होकर इस संसार में अवतरित होता है। ये विचार आत्मा में उसके शरीर रूप धारण के पूर्व बीज रूप में निहित रहते हैं। मानव शरीर उस आत्मा को मानो बन्दी बना लेता है। फलस्वरूप आत्मा ज्ञान को भूल जाती है। किन्तु सांसारिक अनुभवों के पश्चात् आत्मा उन शुद्ध विचारों को जिसे उसने शरीर रूप धारण करने के पूर्व देखा था पुन-र्जागृत कर लेता है। उसका यह विश्वास था कि विचार-विमर्श एवम् प्रश्न प्रणाली द्वारा मस्तिष्क के लिये यह सम्भव हो जाता है कि वह आत्मा के उन शाश्वत एवं शुद्ध सत्य विचारों को याद कर सके। अतएव ज्ञान आत्मा के लिये एक नई अनुभूति या वस्तु नहीं है किन्तु यह उन विचारों की पुनर्जाग्रति है जिसे आत्मा शरीर रूप धारण करने के कारण भूल गया था।

आत्मा के तीन तत्व

प्लेटो ने आत्मा के तीन विभाग अथवा तीन तत्व मानें हैं। आत्मा का पहला तत्व है 'तृष्णा' (Appetites)। इस तृष्णा का केन्द्र है 'नाभि' तथा मानव की सम्पूर्ण इच्छाओं, काम-नाओं एवम् शारीरिक क्रियाओं का यह प्रेरक बिन्दु है। इस तृष्णा का गुण है संयम। आत्मा का दूसरा तत्व धैर्य (Will) है। इस तत्व का केन्द्र स्थान हृदय है। मानव के इस इच्छा-शक्ति अथवा आध्यात्मिक पक्ष का गुण है दृढ़ता। मनुष्य की सम्पूर्ण क्रिया-शीलता साहस, सहनशीलता आदि का श्रोत यही धैर्य है। आत्मा का अंतिम और तीसरा विभाग है 'विवेक' (Reason) जिसका केन्द्र मस्तिष्क है। मानव के सभी उच्च एवम् सर्वश्रेष्ठ कार्य इसी विवेक नामक तत्व से ही प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इस विवेक का गुण है ज्ञान।

जब आत्मा के उपरोक्त तीनों तत्व संगठित अथवा सम्मिलित रूप से कार्य करते हैं तब मनुष्य न्यायपूर्ण एवम् उच्च जीवन व्यतीत

करता है अर्थात् जब आत्मा का इन्द्रिय तत्व विवेक से निर्देशित होकर इच्छाशक्ति अथवा आध्यात्मिक पक्ष से अभिप्रेरित होता है तभी मानव जीवन उन्नति के चरण चूमने लगता है। अतएव विवेकमय जीवन मनुष्य के लिये सर्वश्रेष्ठ है। इसी जीवन में मनुष्य के अन्दर ज्ञान तथा आत्म-नियंत्रण ऐसे गुणों का उदय होता है।

तीनों तत्वों का समन्वय

प्लेटो ने आत्मा के विश्लेषण के उपरांत गुणों को भी चार मुख्य प्रकारों में विभाजित किया है। वे प्रकार हैं संयम, धैर्य, ज्ञान एवम् न्याय। एक सुसंयत आत्मा के अन्तर्गत ये ही मुख्य चार गुण निहित रहते हैं। किसी सुसंयत राज्य के लिए भी इन्हीं गुणों की अपेक्षा है।

गुणों का विभाजन

प्लेटो ने राज्य को भी एक व्यक्ति माना है अर्थात् व्यक्ति के सम्पूर्ण गुण राज्य में भी होते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति विशेष में तीन प्रकार के गुण होते हैं उसी प्रकार राज्य में भी तीन वर्ग के लोग होते हैं। पहला वर्ग है दार्शनिक या शासक वर्ग जो बुद्धिवादी होते हैं तथा जिनका गुण है 'ज्ञान'। दूसरा वर्ग सैनिक वर्ग है। इनका कर्त्तव्य है राज्य में शान्ति रखना, विधि पालन तथा युद्ध आदि का प्रबन्ध करना। इनका गुण है 'सम्मान'। राज्य का तीसरा एवं अन्तिम वर्ग है व्यावसायिक वर्ग [1] जिनका प्रधान कार्य है व्यापार एवम् व्यवसाय। इनका गुण है धनोपार्जन। प्लेटो के विचार से सर्वोत्तम राज्य वही है जिसमें तीनों वर्गों में एक ऐसा सर्वाङ्गीण सम्बन्ध स्थापित होता है

राज्य में तीन वर्ग के व्यक्ति

१—व्यावसायिक वर्ग में किसान, वस्त्रोत्पादक, व्यापारी, दुकानदार पूंजी-पति अथवा आधुनिक शब्दों में स्वतन्त्रसाधनों के व्यक्ति भी इस कोटि में आते हैं। वास्तव में इस वर्ग में वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध शासन तथा राज्य सुरक्षा से नहीं है तथा जो अभिभावक वर्ग में नहीं आते हैं।

जिसमें सभी वर्ग भरसक एवम् उत्साह पूर्वक अपना अपना कार्य सम्पादित करते हैं। इस प्रकार के राज्य में पूर्ण विवेकी दार्शनिक शासक, युद्ध कार्य में निपुण सैनिक तथा श्रम करने में सिद्धहस्त मजदूर मिलेंगे। प्लेटो का यह विश्वास था कि इस प्रकार का संगठन राज्य का एक उच्चतम रूप प्रस्तुत कर सकता है क्योंकि इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना निर्धारित कार्य अपने भरसक योग्यता से करते हैं। इस प्रकार राज्य का यही रूप जनता की सर्वाङ्गीण उन्नति एवम् प्रसन्नता में सहायक हो सकता है। राज्य का यह सिद्धान्त मूलरूप से उच्चवर्गीय शासन अथवा श्रेष्ठ व्यक्तियों के शासन का रूप प्रस्तुत करता है। प्लेटो का सिद्धान्त समाजवादी भी था क्यों कि सिद्धान्तानुसार राज्य के नागरिकों का जीवन पूर्ण रूपेण राज्य द्वारा नियंत्रित था।

प्लेटो द्वारा राज्य के नागरिकों का तीन विभाजन यथा, शासक वर्ग, सैनिक वर्ग तथा सेवक वर्ग, करने के कारण उसके सिद्धान्त को

जातिवादी प्रणाली निर्मूल

'जातिवादी प्रणाली' के नाम से अभिहित किया जाता है किन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो प्लेटो पर यह आरोप निर्मूल सा जान पड़ता है। वास्तव में प्लेटो जातिवादी विचारधारा को जन्म नहीं देता क्योंकि उसका यह वर्ग-विभाजन नागरिकों के जन्म के आधार पर नहीं अपितु योग्यता एवम् बुद्धि के आधार पर है। किसी भी जाति में उत्पन्न व्यक्ति यदि अपने वर्ग के कार्य करने में अयोग्य है तो उसे निम्नवर्ग में आ जाना पड़ेगा। इस प्रकार निम्नवर्ग का व्यक्ति योग्यता के कारण उच्चवर्ग में सम्मिलित किया जा सकता है।

प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त

प्लेटो के अनुसार राज्य ही वह उच्चतम् समाज तथा सर्वश्रेष्ठ नैतिक सम्प्रदाय है जिसके द्वारा व्यक्ति विशेष का जीवन आदर्शों से

परिपूर्ण बन सकता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह स्वाभाविक कर्त्तव्य है कि वह राज्य के प्रति विश्वासप्रिय बने तथा उसमें राज्य-भक्ति कूट-कूट कर भरी हो।

राज्य का महत्व

उसने यह कहा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को राज्य के आधीन कर ले किन्तु वास्तव में आधीनता उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधक न होकर उसको उन्नतिपूर्ण अवस्था में पहुँचाने के लिये साधन मात्र हो। प्लेटो का यह विश्वास था कि समाज की भलाई ही व्यक्ति की भलाई है।

प्लेटो का यह विश्वास था कि उसके समय के जो दोष थे वे शासक वर्ग की किसी पक्ष की अज्ञानता, अहंमन्यता एवम् व्यक्ति प्रधानता के कारण ही उत्पन्न हो गये थे। अतएव उसने राज्य के सुधार के लिये कुछ उपायों की ओर संकेत किया है। उसके राज्य सुधार के संकेत निम्नलिखित हैं :—

राज्य सुधार

(i) स्त्री पुरुषों में समानता—प्लेटो ने अपनी योजना में स्त्री और पुरुष में कोई भेद नहीं रक्खा।

(ii) परिवार एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन—प्लेटो का यह प्रस्ताव था कि नये राज्य के अभिभावकगण पत्नी पुत्र एवम् सम्पति सामूहिक रूप में रख सकते हैं। इस प्रकार की प्रणाली में पारिवारिक जीवन अदृश्य हो जायगा तथा कोई भी शासक किसी प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रख सकेगा।

(iii) शासन ज्ञान से आधार पर—अज्ञानता से राज्य की रक्षा के निमित्त यह अत्यन्त आवश्यक है कि सम्पूर्ण राज्य की सत्ता दार्शनिकों अथवा बौद्धिक वर्ग को सौंप दी जाय क्योंकि ये ही वास्तविक ज्ञानी होते हैं।

(iv) आद्योपांत सुसंगठित शिक्षा-कार्य-क्रम—प्लेटो का यह विचार था कि राज्य का सबसे प्रधान कार्य है 'शिक्षा'। श्रेष्ठ शासकों की उपलब्धि के लिये उसने अभिभावक वर्ग के निमित्त एक आद्योपान्त सुसंगठित शिक्षा-कार्य-क्रम को प्रस्तावित किया।

शिक्षा पर प्लेटो ने विशेष बल दिया है। उसका यह विश्वास था कि शिक्षा का अर्थ सूचना प्रदान करना ही नहीं है वरन् उसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। शिक्षा का तात्पर्य है व्यक्तित्व का पुनर्निर्देशन। आधुनिक शब्दावली में शिक्षा का तात्पर्य है पूर्ण परिवर्तन तथा आत्मा के नेत्रों को उस प्रकाश अथवा ज्योति की ओर जो अभी तक अदृश्य था केन्द्रित करना। प्लेटो के अनुसार शिक्षा का तात्पर्य वातावरण के मध्य आत्मा का विकास है। जीवन ग्रहण करने के प्रारम्भिक क्षणों में आत्मा शरीर धारण करने के कारण संवेदना और तृष्णा में डूबी रहती है। इस अवस्था में विवेक अर्धविकसित अवस्था में रहता है। उसे वस्तुओं का सच्चा ज्ञान नहीं होता और वह अज्ञानता के अन्धकार में इधर उधर भटका करता है। बड़े होने पर बालक की अज्ञानता का पर्दा हटने लगता है तथा उसका कुंठित ज्ञान पुर्ननिर्देशित होकर सही रास्ते पर चलने लगता है। प्रारम्भिक वर्षों में यह सौन्दर्य प्रेम द्वारा होता है। आगे चल कर जब 'विवेक' का उदय होता है, उस अवस्था में शिक्षा का उद्देश्य सत्य के प्रति प्रेम और उसकी प्राप्ति होना चाहिये। शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य आत्मा को अच्छाई या 'गुण' का ज्ञान प्राप्त कराना है।

शिक्षा का उद्देश्य

प्लेटो की शिक्षा योजना

स्वरचित पुस्तक 'रिपब्लिक' में उसने अपनी शिक्षा योजना की एक विस्तृत रूप रेखा प्रस्तुत की है। उसका यह अपना विश्वास था कि उसकी यह योजना एक कल्याणकारी, न्यायपूर्ण एवम् सुखद राज्य को निर्मित करने में सहायक होगी। अपनी शिक्षा योजना में प्लेटो ने इस बात का उल्लेख किया है कि शिक्षा के लिए प्रशिक्षण केवल अभिभावक वर्ग (Guardian class) अर्थात् योद्धावर्ग तथा शासक वर्ग को

अभिभावक वर्ग की शिक्षा

ही प्राप्त करना चाहिये। व्यावसायिक वर्ग की शिक्षा की आवश्यकता पर उसने अपनी असहमति प्रकट की है। शारीरिक शक्ति एवम् मानसिक योग्यता के आधार पर अभिभावक वर्ग को व्यावसायिक वर्ग से पृथक कर देना चाहिये। अभिभावक वर्ग को उचित एवम् योग्य शिक्षा प्रदान करनी चाहिये। इस निम्न वर्ग की शिक्षा की उपेक्षा का कारण उसका उच्चवर्ग का पक्षपात एवम् ग्रीसवासियों के श्रम सम्बन्धी उपयोगी कलाओं के प्रति उदासीनता ही था। अपनी दूसरी पुस्तक 'दि लाज' में प्लेटो ने व्यावसायिक वर्ग के प्रति की गई भूल एवम् उदासीनता को स्वीकार कर इस वर्ग के शिक्षा से लिए भी योजना एवम् सुधार प्रस्तुत किया है। बालकों एवम् युवकों की शिक्षा योजना प्रस्तुत करने में प्लेटो एथेन्सीय व्यवहार के अति निकट रहा है। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित शिक्षा योजना अत्यन्त संक्षिप्त एवम् सामान्य रूप से निम्नलिखित है:—

५ वर्ष तक की अवस्था के बालकों के लिए राज्य को नर्सरी शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिये। शिक्षा के इस काल में उन्हें परियों की

पाँच वर्ष तक की शिक्षा

कहानी, नर्सरी संगीत तथा ईश्वर एवम् देवताओं की कहानियाँ पढ़ानी चाहिये। शिक्षा में अनैतिक कहानियों पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिये तथा केवल श्रेष्ठ देवताओं की ही कहानियाँ बालकों को पढ़ानी चाहिये। प्रथम तीन वर्ष तक बालक का पालन पोषण ऐसा होना चाहिये जिससे वह पीड़ा और आनन्द का अनुभव कम से कम करे तथा उसमें अच्छी आदतों का समावेश हो।

प्रारम्भिक अथवा सामान्य शिक्षा का प्रारम्भ छठें वर्ष की अवस्था से करना चाहिए, जो कि अठारह वर्ष की अवस्था में समाप्त होती है।

प्रारम्भिक शिक्षा ६ से अठारह वर्ष तक

इस अवस्था के लिये शिक्षा के मुख्य विषय हैं संगीत तथा व्यायाम (Music and Gymnastics) प्लेटो के अनुसार शिक्षा के अन्तर्गत संगीत का उद्देश्य है आत्म-नियंत्रण तथा व्यायाम का शारीरिक विकास

किन्तु दोनों विषयों यथा संगीत एवम् व्यायाम के अध्यापकों को यह ध्यान में रखना चाहिये कि उनका उद्देश्य मुख्यत: आत्म-विकास ही है। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित संगीत का अर्थ आज के संगीत से पर्याप्त भिन्न है। उसका संगीत से तात्पर्य एक व्यापक रूप में था। संगीत के अन्तर्गत न केवल संगीत शिक्षा तथा नृत्य जिससे हमारे संवेग प्रशिक्षित होते हैं ही आता है, वरन् उसके अन्तर्गत् सम्पूर्ण साहित्यिक एवम् कलापूर्ण अध्ययन जो कि त्रय-विषय (3 R's) अर्थात् लिखना, पढ़ना तथा अंकगणित से प्रारम्भ होकर आगे तक चलता है तथा जिसमें कवियों का अध्ययन भी सम्मिलित है।

सामान्य शिक्षा संगीत प्रशिक्षण से प्रारम्भ होकर व्यायाम के प्रशिक्षण तक जानी चाहिये किन्तु दोनों प्रकार के प्रशिक्षण समान रूप से साथ-साथ देने चाहिये। निःसन्देह यदि दोनों विषयों में एक ही को रक्खा जाय तो सम्पूर्ण शिक्षा का रूप ही विकृत हो जायगा। यदि केवल संगीत को ही स्वीकार किया जाय तो उससे एक प्रकार का स्त्रैण्य गुण एवम् कोमलता का रूप उत्पन्न हो जायगा और यदि व्यायाम की शिक्षा ही केवल प्रयोग में लायी जाय तो इससे एक प्रकार की कठोरता एवम् जंगलीपन उत्पन्न हो जायगा। दोनों प्रकार का मिश्रित प्रशिक्षण वास्तव में संतुलित एवम् सर्वाङ्गीण विकसित चरित्र को निर्मित करेगा।

संगीत और व्यायाम का समन्वय

प्लेटो का यह विचार था कि उन कहानियों एवम् साहित्य पर कड़ी निगरानी रखनी परम् आवश्यक है जिसका बालक अध्ययन करता है। इस कड़ी निगरानी का फल यह होगा कि बालक जीवन की वास्तविक धारणाओं के प्रति गलत अथवा झूठी धारणा नहीं निर्मित कर सकेगा। अतएव संगीत की सीमा सरल, देशभक्ति-पूर्ण तथा धार्मिक राग-रागिनियों तक होनी चाहिये। संगीत में जो वाद्य प्रयुक्त हों वे

अश्लील साहित्य पर प्रतिबन्ध

अति जटिल तथा बहुतारीय न होने चाहिये। व्यायाम के प्रशिक्षण के सम्बन्ध में भी संयमी जीवन को ध्यान में रखना चाहिये तथा शारीरिक की अपेक्षा नैतिक संयम पर विशेष ध्यान अथवा बल देना चाहिये।

सैनिक शिक्षा १८ से २० वर्ष तक

वे युवक जो कि प्रारम्भिक शिक्षा को उचित प्रकार से प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं अगली शिक्षा अर्थात् सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी हैं, किन्तु जो आगे के शिक्षा के अयोग्य हैं उन्हें व्यावसायिक वर्ग को स्वीकृत करना पड़ेगा। अठारह वर्ष की अवस्था से लेकर बीस वर्ष की अवस्था तक युवकों को सैनिक शिक्षा प्रदान करनी चाहिये। इस समय युवकों को शारीरिक विकास, घुड़सवारी, हथियार चलाना तथा सम्पूर्ण सैनिक जीवन की शिक्षा प्रदान करनी चाहिये। इस समय किसी भी प्रकार की मानसिक शिक्षा नहीं दी जायगी जिससे कि बालक के सैनिक शिक्षा में बाधा उत्पन्न हो।

सैनिक वर्ग

प्लेटो के सामने दूसरी समस्या थी राज्य के भावी शासकों का चुनाव। सैनिक वर्ग के लिये वे ही युवक योग्य हैं जिनमें अपूर्व साहस एवं शक्ति है तथा जो उच्च मानसिक शिक्षा प्राप्त करने के अयोग्य हैं। ऐसे युवक सैनिक वर्ग के सदस्य घोषित कर दिये जाने चाहिए तथा इनको इसी वर्ग में जीवन यापन करना चाहिये।

निर्वाचन प्रणाली

प्लेटो की यह धारणा थी कि बहुत कम ऐसे व्यक्ति हैं जो कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी कहे जा सकें। प्लेटो की यह चुनाव की योजना अत्यन्त नैतिक एवम् स्पष्ट थी। प्लेटो की यह क्रमिक निर्वाचन की योजना धीरे-धीरे किन्तु श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर नागरिक उत्पन्न करने की क्षमता रखती है। यह सत्य है कि बुद्धि एवम् योग्यता-परीक्षण प्रणाली उस समय अज्ञात थी किन्तु प्लेटो ने इस बात पर जोर दिया कि प्रशिक्षार्थियों को कठिन

परीक्षा देनी चाहिये जिससे उनके चारित्रिक गुण तथा योग्यता जानी जा सके। प्लेटो के चुनाव की कसौटी थी—शक्ति एवम् प्रवीणता, आत्मनियंत्रण, सीखने की योग्यता, जन-कल्याण के प्रति रुचि, बुराई का विरोध करने की तत्परता तथा अदृश्य चिन्तन की क्षमता आदि। वे व्यक्ति जो इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर ज्ञान एवम् राज्य-भक्ति के विकास के चरम बिन्दु पर पहुँच जाते हैं वे ही राज्य का शासन करने के योग्य होते हैं।

माध्यमिक शिक्षा, जिसमें पूर्व की सम्पूर्ण प्रशिक्षण निहित है, उन लोगों के लिए संगठित होनी चाहिए जो कि मानसिक संयम को धारण करने के योग्य हैं। ऐसे व्यक्तियों को २० वर्ष की अवस्था से ३० वर्ष की अवस्था तक 'विज्ञान के अध्ययन में अपने को अर्पित कर देना चाहिए।

माध्यमिक शिक्षा २० से ३० वर्ष तक

प्लेटो 'रिपब्लिक' में कहता है: "इसके पूर्व तो बालकों को विज्ञान का केवल सामान्य ज्ञान प्राप्त कराया गया था किन्तु अब वे भिन्न भिन्न वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को समझेंगे"। यह विज्ञान मूल रूप में गणित के रूप में है तथा इसके अन्तर्गत, अंकगणित, रेखागणित, ज्योतिष शास्त्र और हारमोनिक्स (Harmonics) अथवा संगीत की गणितीय पद्धति आदि आते हैं। ये विषय किसी भी प्रकार के व्यावहारिक कार्यों, प्रयोगों आदि के लिए नहीं प्रयुक्त होंगे वरन् सिद्धान्त के रूप में ही सिखाये जायेंगे। इस प्रकार वे नागरिक अदृश्य चिन्तन अथवा विचार की दुनियाँ में विचरण करने के योग्य हो जायेंगे।

३० वर्ष की अवस्था में पुनः एक चुनाव होगा तथा जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अयोग्य घोषित होंगे उनको समाज में सामान्य पद दे दिये जायेंगे तथा जो योग्य होंगे वे ५ वर्ष तक अर्थात् ३० वर्ष से ३५ वर्ष तक दर्शन का अध्ययन करेंगे। इस प्रकार के प्रशिक्षण एवम् विचारों की तर्कपूर्ण व्याख्या के द्वारा उच्चतम् 'ज्ञान' अथवा सत्य का स्वरूप प्राप्त कर लेंगे।

३० से ३५ वर्ष तक शिक्षा

पैंतीस वर्ष की अवस्था में ये दार्शनिक अथवा 'सत्य' के प्राप्तकर्त्ता पुनः सामाजिक जीवन की ओर राज्य के अभिभावक के रूप में लौट आएँगे। पन्द्रह वर्ष तक ये दार्शनिक समाज में अपने को अर्पित करेंगे और राज्य के शासन का भार संभालेंगे।

३५ से ५० वर्ष तक

पचास वर्ष की अवस्था में वे अवकाश प्राप्त करने के अधिकारी होंगे। अवकाश प्राप्त करने के बाद ये सलाहकर्त्ता के रूप में कार्य कर सकते हैं। इनको राजकीय सहायता तथा राजकीय सम्मान प्राप्त होगा। अन्त में वे अपना जीवन 'वास्तविक सत्य' की खोज में अर्पित कर देंगे।

पचास वर्ष के बाद

शिक्षा की अपनी योजना में प्लेटो स्त्रियों के लिए उसी प्रकार की शिक्षा को प्रदान करने के लिए कहता है जैसे कि पुरुषों को। उस समय के समाज के लिए यह एक महान क्रान्तिकारी विचार था जब कि स्त्रियों का स्थान निम्न था और जिनकी दुनियां घर तक ही सीमित थी। यह विचार बहुत समय बाद १९ वीं शताब्दी में बड़ी कठिनता से स्वीकार किया गया। प्लेटो अपने सम्पूर्ण विचारों को सिद्धान्त रूप में स्थिर करता है। राज्य का हित ही सर्व प्रमुख होने के कारण उसने स्त्रियों को भी पुरुष के समान शिक्षा प्रदान करने के लिए कहा है जिससे कि स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही राज्य के हित में कार्य कर सकें। उसका यह विश्वास था कि "राज्य के प्रशासन में न तो स्त्री को स्त्री के रूप में और न तो पुरुष को पुरुष के रूप में कोई विशेष कार्य करने पड़ते हैं किन्तु दोनों में प्राकृतिक देन समान रूप से होते हैं। जो कार्य पुरुष के होते है वे स्त्रियों के भी हैं, किन्तु सभी रूप में स्त्री एक कमजोर व्यक्ति है।" यद्यपि प्लेटो यह स्वीकार करता है कि शारीरिक शक्ति में स्त्री पुरुष से निर्बल अवश्य है इतना होने पर भी वह इस बात की घोषणा करता है कि राजनीतिक क्षेत्र में अथवा प्रशासकीय योग्यता में स्त्रियाँ पुरुष के समान हैं। अतएव

स्त्री-शिक्षा

प्लेटो के दृष्टिकोण से स्त्रियों को भी अपनी योग्यता के अनुसार दार्शनिक, सैनिक तथा श्रमिक बनना चाहिये। उनको भी संगीत एवम् व्यायाम का अध्ययन करना चाहिये तथा साथ ही उन्हें युद्ध की कला भी पुरुष के समान सीखनी चाहिए। घर-गृहस्थी की चिन्ता एवम् बालकों की पालन-पोषण की चिन्ता से मुक्त कराने के लिये उन्हें पुरुषों के साथ संयुक्त जीवन व्यतीत करना पड़ेगा तथा उनके बालक उत्पन्न होने पर राज्य उन बालकों को अपने संरक्षण में लेकर उनका पालन-पोषण स्वयं करेगा।

प्लेटो द्वारा 'रिपब्लिक' में प्रतिपादित यह आदर्शवादी शिक्षा-योजना तत्कालीन शिक्षा पर अपना तुरन्त प्रभाव न जमा सकी। प्लेटो की शिक्षा-योजना की प्रतिष्ठा केवल मस्तिष्क द्वारा प्रतिपादित कल्पित विचार के रूप में ही हुई। प्लेटो स्वयं इस सत्य से जागरूक था कि उसकी योजना समाज को सन्तुष्ट नहीं कर सकेगी, किन्तु उसकी यह धारणा थी कि समाज को जितना भी सम्भव हो सके वह इस योजना के निकट लाने का प्रयत्न करेगा। उसका सिद्धान्त उस समय के लिये अव्यावहारिक अवश्य था, किन्तु उसके आदर्श का मूल्य भी बहुत था क्योंकि उसने मनुष्यों को उनके प्रयत्नों के लिये एक निश्चित् किन्तु सुविकसित सीमा का ज्ञान कराया।

योजना की तत्कालीन असफलता

जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है प्लेटो की दूसरी पुस्तक 'दी लाज़' में उसका अधिक सुदृढ़ एवम् सुस्पष्ट रूप मिलता है। उसकी योजना में सबसे अधिक ध्यान देने वाली बातें ये हैं—शिशु-शिक्षा पर अधिक प्रकाश तथा नर्सरी शिक्षा में उचित प्रशिक्षण, बालकों के शारीरिक विकास पर विशेष ध्यान तथा बालकों के खेल की प्रवृत्ति का उचित उपयोग, सार्वभौमिक एवम् अनिवार्य शिक्षा के महत्त्व पर जोर, बालक एवम् बालिकाओं के लिये विभिन्न प्रशिक्षण प्रणाली की आवश्यकता पर

'दी लाज़' के अनुसार शिक्षा

प्रकाश, व्यावसायिक वर्ग अथवा शिल्पकार वर्ग की शिक्षा सम्बन्धी भूल का परिष्कार तथा किशोरावस्था में युवकों की शिक्षा उन विद्यालयों में जहाँ पर कि विभिन्न विषयों पर विशेष निर्देश दिये जायँ, देने की माँग की।

समीक्षा

प्लेटो द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-सिद्धान्त अथवा प्रणाली की आलोचना के मुख्य विषय निम्नलिखित हैं :—व्यक्ति को राज्याधीन कर देना, स्त्री एवम् पुरुषों में समान बर्ताव रखना, व्यक्तिगत सम्पत्ति एवम् परिवार का उन्मूलन, शिक्षा को शासक वर्ग के लिये ही रखकर शिक्षा को अत्यधिक संकुचित कर देना, व्यावसायिक वर्ग को शिक्षा-विहीन कर देना, गणितीय शिक्षा पर अत्यधिक बल, आदि। उपरोक्त बातों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्लेटो की शिक्षा सम्बन्धी योजना में कुछ ऐसी भारी त्रुटियाँ या दोष आगये हैं जिनसे कि बालक का जीवन नीरस एवम् अनिश्चित हो सकता है। निःसंदेह वह "समान बालक और समान शिक्षा" कहकर बालक के व्यक्तित्व का अपहरण कर लेता है। बालक एक मशीन सा प्रतीत होता है जो राज्य द्वारा संचालित है। कुटुम्ब के प्रति उदासीनता का भाव प्रदर्शित कर प्लेटो अपनी कुटुम्बीय अनुभवहीनता का परिचय देता है; वह पारिवारिक सुख की भावना पर तुषारापात करता है।

बाद की शिक्षा पर प्लेटो का प्रभाव

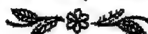
प्लेटो ने ग्रीक काल से ही मनुष्यों के विचार एवम् व्यवहार में अपना एक अच्छा प्रभाव स्थापित किया है। प्लेटो ने विश्व के अधिकतर दार्शनिकों,[1] राजनीतिज्ञों तथा समाज-शास्त्रियों को प्रभावित किया है इन विद्वानों में प्रमुख हैं—अरस्तू, डेकार्टे, स्पिनोजा, हाब्स, स्पेन्सर

१—एक आधुनिक विचारक का तो यहाँ तक कहना है कि ५ वीं शताब्दी ईसा पूर्व के बाद का पाश्चात्य दर्शन केवल प्लेटो के विचारों की टिप्पणियों की एक माला है।

आदि। प्लेटो ने बाद के विचारकों को तो प्रभावित किया ही परन्तु समकालीन विचार-धाराओं पर भी अपनी पर्याप्त छाप छोड़ी है। इन समकालीन विचार-धाराओं में प्रमुख हैं समाजवाद, स्त्री-अधिकार, मानसिक परीक्षण इत्यादि।

प्लेटो ने अपना स्पष्ट प्रभाव बाद की शिक्षा पर भी डाला है। एकेडमी की स्थापना कर वस्तुतः उसने आज के विश्वविद्यालय का बीजारोपण किया है। युवकों को नियमित प्रणाली के अनुसार प्रशिक्षण अथवा निर्देशन देने के लिये पाठशाला की आवश्यकता की राय देकर उसने आज के उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की खोज की है। इसके परिणाम स्वरूप हम हेलेनिस्टिक (Hellenistic) काल में इस प्रकार के विद्यालय सर्वत्र पाते हैं। रोम-वासियों ने भी इसी ढंग को अपनाया। मध्यकालीन 'ग्रामरस्कूल' की स्थापना का यही मूल कारण था। आज तक विद्यालयों की जो सर्वतोमुखी प्रगति हुई यह उसी नन्हें से बीज की ही शक्ति है। माध्यमिक शिक्षा के लिये प्लेटो द्वारा प्रतिपादित चार विषयों यथा, अंकगणित, रेखागणित, ज्योतिष शास्त्र तथा स्वरविज्ञान ने ही मध्यकाल में क्वाड्रिवियम (Quadrivium) नाम से उच्चस्तरीय अध्ययन को स्थिर किया। इस प्रकार प्लेटो ने न केवल पाश्चात्य संसार की भावी उच्चस्तरीय शिक्षा को प्रभावित किया वरन् मानसिक अनुशासन (Mental Discipline) की आवश्यकता भी बताई जो कि बहुत सीमा तक अंग्रेजी, फ्रान्सीसी तथा जर्मनी की उच्चशिक्षा का अंग था। मानसिक अनुशासन से विषयों की व्यावहारिकता को गौण स्थान देकर प्लेटो ने सर्वप्रथम शिक्षा में मानसिक अनुशासन के महत्त्व को प्रस्तुत किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्लेटो का शिक्षा-सिद्धान्त एवम् व्यवहार पर काफी प्रभाव रहा है जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। 'रिपब्लिक' सामान्य साहित्य में सदैव एक महत्वपूर्ण पुस्तक मानी जायेगी। निःसन्देह प्लेटो की यह पुस्तक शिक्षा सम्बन्धी महा काव्य है।



"प्रकृति के नियन्ता के यहाँ से सभी वस्तुयें अच्छे रूप में आती हैं, किन्तु मनुष्य के हाथ में आने से ही वह दूषित हो जाती हैं।"

—रूसो

अध्याय—२

रूसो

(१७१२—१७७८)

भूमिका

शिक्षा के क्षेत्र में रूसो एक महान् युग प्रवर्तक माना जाता है। व्यावहारिक दर्शन के क्षेत्र में उसे आधुनिक प्रजातंत्रवाद का यदि पिता कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। निःसन्देह उसके शिक्षा सम्बन्धी विचार इतने क्रान्तिकारी थे कि उनका प्रभाव आज के शिक्षा-सिद्धान्त एवं व्यवहार पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। रूसो का सम्मान उस प्रथम महान् शिक्षा-सुधारक के रूप में किया जा सकता है जिसने की प्राचीन रूढ़िवादी एवं जर्जरित शिक्षा-पद्धति की जड़ को नष्ट कर पुनः नये प्रकार की बाल-प्रशिक्षण पद्धति की नींव डाली। वास्तव में रूसो के इस विचार-धारा रूपी नन्हें से वृक्ष ने आज एक पुष्पित एवं पल्लवित वृक्ष का रूप धारण कर लिया है। आज इस विशाल वृक्ष की छाया में शिक्षा जिज्ञासु अपार तृप्ति एवं परम सन्तोष का अनुभव कर रहे हैं।

पृष्ठभूमि

इस फ्रान्स एवं स्विटजरलैन्ड निवासी शिक्षा-सुधारक की सम्पूर्ण विचार-धाराओं अथवा देन को ठीक प्रकार से समझने के लिये हमें



रूसो (१७१२-१७७८)

१८ वीं शताब्दी के यूरोप की बौद्धिक एवं सामाजिक स्थिति पर एक विहंगम दृष्टिपात करना होगा। किसी भी लेखक की कृतियों पर उसके काल की नैतिक, सामाजिक, बौद्धिक एवं भौगोलिक परिस्थिति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। अतएव रूसो के सम्बन्ध में भी हमें उपरोक्त बातों को ध्यान में रख कर अध्ययन करना समीचीन होगा।

रूसो पर उसके काल का प्रभाव

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं १८वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में यूरोप के देशों में राजनीति, धर्म, विचारधारा एवं कार्य के क्षेत्र में अराजकता, अन्धविश्वास एवं धार्मिक कट्टरता का पूर्ण साम्राज्य स्थापित था। अधिकतर सभी स्थानों पर राजा के दैवी 'अधिकार का सिद्धान्त एवं जनता द्वारा राजाज्ञाओं के पालन करने का कर्त्तव्य प्रतिष्ठित था। इस प्रकार की सरकार का समर्थन चर्च ने पूर्ण रूप से किया था। लुई १४ वें के समय में फ्रांस में राजतन्त्र की पराकाष्ठा तब हुई जब कि उसने घोषित किया कि "मैं ही सम्पूर्ण राज्य हूँ"। असीमित सत्ताओं से विभूषित राजा तथा उसके समर्थकों ने उपरोक्त वाक्य का पूर्ण समर्थन किया। पूर्ण प्रतिष्ठित चर्च ने अपनी शक्ति को पूर्ववत् जारी रक्खा तथा उसने विचारों एवं कार्यों पर अपना अन्यायपूर्ण प्रभाव जमाया। चर्च के उच्च अधिकारी गण मनोनीत व्यक्ति हुआ करते थे, जो अधिक वेतन प्राप्त करते थे तथा विलासी जीवन व्यतीत करते थे। अधिकारीगण पूजा संबन्धी कर्त्तव्यों की पूर्ण अवहेलना करते थे। मध्यम वर्गीय नागरिक—व्यापारी, वकील, साधारण अधिकारी आदि की स्वतन्त्रता की कड़ी देख रेख कई प्रकार से होती थी। निम्नवर्गीय जनता भीषण कर की जंजीर से जकड़ी हुई थी तथा वह अपना जीवन नैराश्यपूर्ण निर्धनता की काल-कोठरी में बिता रही थी। कृषि, जो उस समय का महान् उद्योग था, उस पर भी राज्य के प्रतिनिधियों और चर्च द्वारा

१८ वीं शताब्दी यूरोप विशेषकर फ्रांस की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति

इतना कर लगा दिया जाता था कि लाभ का आधे से अधिक भाग कर-देवता के पेट में चला जाता था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पूर्णरूपेण हनन कर दिया गया था। अति परिश्रमी, निर्दोष किन्तु देश-भक्त बहुसंख्यक नागरिकों की हीनता और दीनता चरम् सीमा पर पहुँच चुकी थी।

शिक्षण स्थिति

शिक्षण विधि एवं शिक्षा-सिद्धान्त का निर्धारण प्रौढ़ रुचियों के अनुसार होता था तथा शिक्षा का संगठन भी प्रौढ़ सामाजिक जीवन के आधार पर हो गया था। बालक को प्रौढ़ावस्था का एक लघु चित्र मात्र समझा जाता था। फलस्वरूप बालक और बालिकाओं का शिक्षण एक छोटे मनुष्य और एक छोटी स्त्री के रूप में होता था। शिशुओं से यह आशा की जाती थी कि वे प्रौढ़ावस्था में प्रतिपादित बिचारों एवं विषयों को समझने में सफल हो सकेंगे। नैतिक व्यवहार के अति जटिल एवं कठोर मान-दण्ड का पालन करने के लिये वे बाध्य किये जाते थे। जो बालक इस प्रकार की शिक्षा के प्रतिकूल जाता था अथवा उसके अयोग्य होता था उसको कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता था। अति हीन साधनों के द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। सर्वसाधारण के विद्यालय विषय-वस्तु की दृष्टि से संकीर्ण, शिक्षण-पद्धति में अति अप्राकृतिक तथा अनुशासन के क्षेत्र में अति कठोर थे।

'अतुल प्रकाश' अथवा 'प्रबोध'—एक तार्किक और जन-तान्त्रिक आन्दोलन

१८ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में नागरिकों द्वारा त्रुटिपूर्ण पद्धति के विरुद्ध वाल्टेयर नामक विद्वान के नेतृत्व में महान् क्रांति हुई। इस आन्दोलन को "अतुल-प्रकाश' अथवा 'प्रबोध' (Enlightenment) के नाम से अभिहित किया गया है। इस तर्कवादी क्रांति का जन्म विचार एवं विश्वास के क्षेत्र में बढ़ती हुई 'नियमित विनय', चर्च एवं राज्य की निरंकुशता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ था। जन बोध एवं तर्क इस क्रांति का

सिद्धान्त था। प्राचीन समय का राज्य-अन्याय, धार्मिक
ा तथा विचार परतन्त्रता का इस क्रांति ने खुलकर
ा तथा विचार, सरकार अथवा नैतिकता के क्षेत्र में जो
अपना जड़ जमाये हुए थी उसको भी समूल नष्ट करने
बनाई गई। इस क्रांति का उद्देश्य अन्धविश्वास एवं रुढ़ि-
व्यक्ति को मुक्त करना तथा व्यक्तिगत न्याय का अधिकार,
तथा तर्क की महत्ता की स्थापना करना था। किन्तु यह
'श्रेष्ठ जन' आन्दोलन के रूप में था। यही कारण है कि
द्वारा सर्वसाधारण के प्रति कोई भी सहानुभूति प्रदर्शित न
राज्य-सत्ता एवम् चर्च की प्राचीन श्रेष्ठ जनवादिता के स्थान
क नई बुद्धि एवं सम्पतिवादी श्रेष्ठ जनवादिता स्थापित की।
ीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पूर्वोत्तर कालीन 'प्रबोध' के सहारे
ान्दोलन अथवा 'प्रकृतिवाद' की आवाज तीव्र होने लगी।

द-रूसो
ाधि

इस क्रांति की लहर ने बौद्धिक 'श्रेष्ठ जन-तंत्रात्मक' शासन का विरोध किया तथा प्रकृतिवादी शिक्षा एवम् सामान्य वर्ग के अधिकारों की
गाई। रूसो इस प्रकृतिवादी आन्दोलन का प्रतिनिधि हुआ।
व की आन्तरिक भावनाओं पर विशेष ध्यान दिया तथा
के स्थान पर प्रकृति-विश्वास के गुणों को, जिसका रूप गहन
था, स्थापित किया। प्राचीन बुद्धिवाद के स्थान पर उसने
अपने कल्याण के लिए कार्य करने की योग्यता प्राप्त करने
कृति पर पूर्ण विश्वास रखने को कहा। बालक को प्रकृति
वेक प्राणी घोषित कर, तथा यह प्रदर्शित कर कि बालक
नियमों के अनुसार ही कार्य करता एवं बढ़ता है, उसने
परम्परावादी ईश्वरीय धारणा का अन्त कर दिया। इस
ारक की सामाजिक एवं शिक्षा संबंधी स्थिति का स्पष्ट ज्ञान
चरित्र एवं कार्यों द्वारा परिलक्षित होता है।

रूसो का जीवन तथा शिक्षा संबन्धी कृतियां

रूसो ने बड़े ही स्पष्ट रूप से अपना जीवन वृतान्त प्रस्तुत किया है। इस सीमित स्थल पर इतना ही सम्भव है कि हम रूसो के जीवन की कुछ ऐसी घटनाओं एवं बातों का उल्लेख करें जिनका सीधा संबन्ध उसके शिक्षा सम्बन्धी विचारों से है।

रूसो का जन्म सन् १७१२ ई० में स्विट्जरलैन्ड में, जेनेवा नामक एक छोटे से नगर में हुआ था। उसका पिता एक घड़ी-निर्माता तथा माता मंत्री की पुत्री थी। रूसो के जन्म लेते ही उसके माता का देहावसान हो गया, जिसे कि उसने अपने दुर्भाग्य का प्रथम पदार्पण कहा है। उसके प्रथम दस वर्ष पिता की संरक्षता में व्यतीत हुए। उसका पिता बहुत भावुक एवं निराला था। उसको बच्चों के उचित पालन-पोषण का अनुभव नहीं था। अतएव रूसो ने अपने पिता से जो शिक्षा पाई वह अव्यवस्थित थी। फिर भी उसने पिता से अध्ययन एवं गहन मनन की अभिरुचि प्राप्त की थी। उसने कभी भी स्कूल का विद्यार्थी होने का अनुभव नहीं प्राप्त किया था। दस वर्ष की अवस्था में रूसो अपने एक चचेरे भाई के साथ दो वर्ष तक अध्यापक के पास अध्ययन के लिए जाता रहा, जहाँ पर उसे "लैटिन भाषा तथा उससे सम्बंधित अन्य व्यर्थ जर्जरित बातों" का अध्ययन करना पड़ता था। नैसर्गिक सौन्दर्य के प्रति उसमें प्रेम की भावना उत्पन्न हुई। एक अथवा दो वर्ष बाद वह एक शिल्पी के यहाँ कार्य करने लगा। किन्तु शिल्पी के कठोर व्यवहार के कारण वह भाग निकला। एक दिन सम्पूर्ण दिवस के पर्यटन के पश्चात् जब वह रात्रि में पुनः शहर लौटा तो उसने सम्पूर्ण द्वार बन्द पाये। गहन अन्धकार में द्वार के खुलने के लिए वह पूर्ण निराश हो गया। अन्त में उसने अपनी जन्म भूमि को सदा सर्वदा के लिए छोड़ कर फ्रांस प्रस्थान करने का निश्चय किया। यहीं से उसकी जीवन-कथा का वह अंश प्रारम्भ होता है जो यात्राओं

एवं साहसिक कार्यों से रंजित है। सोलह वर्ष की अवस्था से लेकर छत्तीस वर्ष तक उसने एक पर्यटक अथवा आवारा जीवन व्यतीत किया। इस बीच उसने नौकरी के लिए कुछ छोटे-मोटे प्रयत्न भी किए। उसके पर्यटन ने फ्रांस के कष्टमय कृषक जीवन की अन्तर्दृष्टि उत्पन्न की। उसने कई प्रकार की नौकरी भी की। इनमें प्रमुख थे—मंत्री-पद, संगीत-शिक्षक, प्रतिलिपिकार, कम्पोजिटर, नाटककार आदि। किन्तु वह इन सभी कार्यों में असफल रहा।

उसके जीवन में उस समय परिवर्तन होता है जब कि वह २५ वर्ष की अवस्था में भयंकर बीमारी से पीड़ित था, वह उस समय साहित्य एवं विज्ञान का अध्ययन करना प्रारंभ कर देता है। इस समय उसने प्रसिद्ध विद्वानों यथा हाब्स, लॉक, मान्तेन, फेनेलन, वाल्टेयर, मेल-ब्रैन्शी, डेकार्ट, लाइबनीट्ज, न्यूटन तथा अन्य लेखकों का अध्ययन किया। वह लोक की रचनाओं से अत्यधिक प्रभावित हुआ। इस प्रभाव ने रूसो को शिक्षा संबन्धी कार्यों के लिए विशेष रूप से प्रेरित किया। वह दो बालकों को पढ़ाता भी था। यद्यपि वह एक अध्यापक के रूप में सफल नहीं हुआ तथापि अध्यापन के अनुभव ने उसके हृदय में शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं के प्रति अतीव रुचि उत्पन्न की।

रूसो साहित्यिक जीवन की कामना करता था। अनेक असफल-ताओं एवं अवरोधों के पश्चात् उसकी कामनायें पूर्ण हुईं। उसने अपना सम्पूर्ण जीवन विचार एवं मनन करने, यात्रा करने तथा विद्वतापूर्ण कृतियों की रचना करने में व्यतीत किया। उसका नैतिक चरित्र निश्चय ही कमजोर था। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि जो कुछ उसने किया, उसको उसने सहर्ष स्वीकार भी किया। सन् १७५० में उसने 'डिस्कोर्स ऑन दी साइन्स एण्ड दी आर्टस्' शीर्षक सर्वश्रेष्ठ निबन्ध पर पुरस्कार प्राप्त किया। चार वर्ष के पश्चात् 'सोशल इनिक्विलिटी' विषय पर निबन्ध लिखने के कारण उसे पुनः पुरस्कार प्राप्त हुआ। इन प्रारंभिक कृतियों के सहारे रूसो ने विद्व

संसार को अपनी तीन महत्वपूर्ण पुस्तकें—'दि न्यू हेलॉयज' (The New Heloise)[1] जिसका प्रकाशन १७६१ ई० में हुआ; 'दि सोशल कान्ट्रैक्ट' (The Social Contract), १७६२ ई० में प्रकाशित तथा 'एमील' (The Emile) जिसका प्रकाशन कुछ सप्ताह पश्चात् हुआ, प्रदान की।

'एमील' रूसो की महत्वपूर्ण पुस्तक है जिसके द्वारा रूसो ने शिक्षा-सिद्धान्त के मर्मज्ञ के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त की है। एमील पुस्तक की रचना एक उपन्यास के रूप में हुई है, जिसमें रूसो ने एमील नामक नवयुवक की शिक्षा का वर्णन अति मनोरंजक ढंग से किया है।[2] लगभग सभी चीजें जो उसकी लेखनी से प्रस्फुटित हुई हैं, नितान्त विवादास्पद एवं संघर्षपूर्ण हैं। इसी कारण रूसो के शत्रुओं की संख्या बढ़ने लगी। 'एमील' के प्रकाशित होते ही सार्वभौमिक घृणा-मिश्रित शत्रुता रूसो के प्रति उत्पन्न हो गई। पुस्तक की बड़ी भद्दी आलोचना हुई तथा उसे जनसाधारण के सामने जला देने की आज्ञा दे दी गई। इसी समय इस पुस्तक के लेखक—रूसो, को कारावास दण्ड की आज्ञा भी दी गई। यहाँ पर यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि एमील पुस्तक पर चर्च तथा राज्य द्वारा जो प्रहार अथवा विरोध किया गया उसका कारण रूसो का शिक्षा-सिद्धान्त न होकर उसमें प्रतिपादित धार्मिक विचार था। रूसो ने यह विचार किया कि अब उसको इंगलैण्ड जाकर डेविड ह्यूम की शरण लेनी चाहिए।

१—इस पुस्तक में रूसो ने गृह-शिक्षा संबन्धी अपने विचार प्रकट किये हैं। इस शिक्षा में माता अध्यापक का कार्य करती है।

२—शिक्षा संबन्धी विचारों के प्रतिपादन तथा भावाभिव्यक्ति की शक्ति में इस पुस्तक की तुलना प्लेटो की 'रिपब्लिक' से की जा सकती है। इस पुस्तक को शिक्षा साहित्य और कदाचित समस्त साहित्यों में श्रेष्ठ मौलिक पुस्तकों में एक माना जाता है।

उसने अपने जीवन के अनेक वर्ष देश-निर्वासित के रूप में व्यतीत किए। इंगलैण्ड आकर उसने 'कन्फेशन्स' (Confessions) नामक पुस्तक लिखना प्रारम्भ किया। यह पुस्तक उसकी सुप्रसिद्ध जीवन-कृति मानी जाती है। सन् १७७० में वह पुनः पेरिस लौट आया। यहाँ अपने जीवन के अंतिम समय में उसने 'कन्फेशन्स' का दूसरा भाग लिखा। उसकी अपूर्व ख्याति एवं जन-कल्याण के कार्यों के बावजूद भी उसका अंतिम समय जीवन के आरंभिक समय से भी अधिक कष्टमय बीता। देश निर्वासन, निर्धनता एवं एकान्त के मध्य सन् १७७८ ई० में उसने अपनी अंतिम साँस ली। उसकी मृत्यु के ११ वर्ष पश्चात् ही फ्रांस की सुप्रसिद्ध राज्य क्रांति हुई। निःसंदेह इस क्रांति के मूल में रूसो के शब्दों की महान शक्ति छिपी थी। नैपोलियन ने कहा है कि यदि रूसो न पैदा हुआ होता तो फ्रांस की राज्य क्रांति भी न हुई होती। शिक्षा के सिद्धान्त एवं व्यवहार में भी रूसो ने पूर्ण क्रांति उत्पन्न की है।

रूसो का दर्शन

रूसो के दर्शन का मूल तत्व 'प्रकृतिवाद' के सिद्धान्त में निहित है। यद्यपि उसके उद्देश्य आदर्शवादी थे किन्तु उसकी पद्धति निश्चय ही प्रकृतिवादी थी। रूसो की प्रशंसा में ऐडम्स ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं— "शिक्षा के संबन्ध में लिखने वाला रूसो ही कदाचित सुप्रसिद्ध प्रकृतिवादी था"। एमील की प्रारंभिक पंक्तियों से ही प्रकृतिवादी विचारधारा की व्यंजना हो जाती है। इन पंक्तियों में रूसो कहता है "प्रकृति के नियन्ता के यहाँ से सभी वस्तुयें अच्छे रूप में आती हैं; मनुष्य के हाथ में आने से ही वह दूषित हो जाती हैं"। रूसो निश्चय ही स्थापित संस्थाओं का विरोधी था। इस बात का स्पष्टीकरण उसके इस कथन से हो जाता है कि "जो साधारणतः

प्रकृतिवाद का सिद्धान्त

किया जाता है उसका ठीक उल्टा करो, तब तुम ठीक पथ पर पहुँच जाओगे।" उसका कथन है कि समाज की बुराइयों का एक मात्र कारण है मानवीय संस्थायें। इस लिए रूसो कहता है "प्रकृति की ओर लौटो।" उसका यह विश्वास था कि मनुष्य का प्राकृतिक विकास समाज में रहकर सम्भव नहीं है; अपितु समाज से परे प्राकृतिक वातावरण में ही सम्भव है।

सभ्यता, विज्ञान, संस्कृति ने मनुष्य को अपने बंधन में बाँध लिया है। रूसो का यह विचार था कि वास्तविक 'मनुष्य' को बिगाड़ने में इनका बहुत बड़ा हाथ है। उसने घोषित किया कि सभ्यता एक बहुत बड़ी त्रुटि है। इसी के द्वारा बुराइयाँ एवं दुर्भाग्य उत्पन्न होते हैं। रूसो ने यह प्रस्तावित किया कि कृत्रिम आवरण को उतार फेंक कर मनुष्य को भरसक पूर्ण विकास का प्रयत्न करना चाहिये। वास्तव में इसी अवस्था में मनुष्य का वास्तविक एवं नैसर्गिक विकास हो सकता है। रूसो का विश्वास था कि विज्ञान ने ही मनुष्य को प्रकृति से पृथक कर दिया है। अतएव मनुष्य की रक्षा का एक मात्र उपाय है कि वह विज्ञान की परिधि से निकाल कर पुनः प्रकृति की ओर लौटे।

बुराइयों एवम् दुर्भाग्य का मूल-कारण—सभ्यता

रूसो ने दृढ़ निश्चय पूर्वक यह घोषित किया कि प्रत्येक व्यक्ति का एक अपूर्व व्यक्तित्व होता है तथा सभी व्यक्ति स्वतंत्र एवं समान होते हैं। 'सोशल कान्ट्रेक्ट' का प्रारम्भ ही इस घोषणा से होता है कि "मनुष्य जन्म से स्वतंत्र है तथा प्रत्येक स्थान पर वह शृंखलाबद्ध है।" रूसो कहता है कि "सभ्य मनुष्य दासता के राज्य में पैदा होता है, जीवन व्यतीत करता है तथा उसमें ही वह अपनी अंतिम साँस लेता है। उत्पन्न होते ही मनुष्य कपड़ों में लपेटा जाता है, मृत्यु के समय कफन से ढका जाता है तथा जब तक

मनुष्य स्वतंत्र एवं समान है; समाज का प्रतिबंध मनुष्य द्वारा सम्भव है।

वह जीवित रहता है वह संस्थाओं की जंजीरों में जकड़ा रहता है।" रूसो की दृष्टि में राज्य तथा समाज अत्याचार के घर हैं। उसने स्वाभाविक पुनरुद्धार की माँग की जिसका अर्थ बर्बरता की ओर लौटना न होकर उस प्राकृतिक अवस्था की ओर लौटना है जहाँ मनुष्य अपने साथियों से अस्वाभाविकता से आवृत्त होकर नहीं मिलता है, वरन् वहाँ दोनों जनता के बहुमत द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छाओं का सम्मान करते हैं। रूसो ने यह तर्क उपस्थित किया कि राज्य-सत्ता की भावना मनुष्य में सदैव से रही है; इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। सरकार जनता की इच्छा पर आधारित है। मनुष्य को पूर्ण अधिकार है कि वह किसी भी समय अपनी सरकार को भंग कर दूसरी सरकार का निर्माण करे। रूसो ने प्रस्तावित किया कि एक ऐसे प्रजातंत्रात्मक राज्य की स्थापना होनी चाहिये जो कि स्वतंत्रता, बंधुत्व तथा समानता पर आधारित हो। वह प्रतिनिधि सरकार को समाप्त कर उसके स्थान पर सम्पूर्ण व्यक्तियों के द्वारा निर्मित सरकार के शासन की स्थापना के लिए कहता है। रूसो के इस विचार का नमूना स्विट्-जरलैण्ड का प्रजातंत्रात्मक राज्य है। यह प्रजातंत्रात्मक राज्य व्यक्तियों का एक छोटा सा समूह था जिसमें सामूहिक रूप में प्रत्येक समस्या पर विचार किया जाता था तथा अपने लक्ष्य का निर्माण बहुमत के आधार पर किया जाता था। इस प्रकार रूसो का आदर्श राज्य उस समाज में निहित है जो मनुष्यों द्वारा पूर्ण रूपेण परिचालित होता है तथा जिसमें आडम्बर या कृत्रिमता, श्रेष्ठ व्यक्तियों का प्रभाव तथा मनुष्य पर समाज द्वारा किए गए अत्याचार आदि घटित होते ही नहीं।

अधिकांश विचारकों की धारणा थी कि मनुष्य पाप में उत्पन्न होता है तथा वह जन्म से ही बुरा होता है। इस पाप की जन्मजात प्रवृत्ति को निर्मूल करने का एक मात्र मार्ग है बालकों को कठोर दण्ड देना। इस कठोर दण्ड के लिए कहा गया है कि "डंडा बालकों

की बुरी हालत को सुधारने के लिए ईश्वर प्रदत्त साधन है।" रूसो ने इससे सर्वथा विपरीत मत प्रकट किया है। रूसो ने कहा है कि "हमें इसे एक सर्वथा अकाट्य नियम बना लेना चाहिए" कि "प्रकृति का प्रथम उपकरण सदैव ठीक होता है; मानवीय हृदय में कोई मौलिक पाप की भावना नहीं रहती।" रूसो के अनुसार अच्छाई मनुष्य की मौलिक प्रवृत्ति है तथा बुराई एवं दोष वह ग्रहण करता है। गुण आत्मा में निहित होता है। इस प्रकार रूसो ने बहुत पहले से चली आई स्थिर धारणा अर्थात् बालक नैसर्गिक रूप से भ्रष्ट है, का विरोध किया तथा यह प्रतिपादित किया कि वह जन्म से अच्छा होता है। रूसो ने कहा कि मानवीय संस्थायें एवं शिक्षा की दोषपूर्ण पद्धतियाँ ही मनुष्य को पाप-युक्त एवं दोषमय बना देती हैं।

बालक स्वभाव से ही अच्छे होते हैं वे पाप के मध्य नहीं उत्पन्न होते।

रूसो का शिक्षा-सिद्धान्त

रूसो ने दृढ़तापूर्वक मानवीय अधिकारों की घोषणा की। उसने व्यक्तिगत महत्व की रक्षा करते हुये उसकी आवश्यकता पर बल दिया। रूसो ने व्यक्ति की आवश्यकता एवं हित संगठित समाज से भी अधिक बतलाया। उसके अनुसार व्यक्तिगत भलाई एवं प्रसन्नता का महत्व समाज की सेवाओं से अधिक है, क्योंकि व्यक्ति की स्वयं एक सत्ता है और वह मूल्यवान भी है। अतः कभी भी समाज के हित में व्यक्ति का बलिदान न करना चाहिए।

समाज की अपेक्षा व्यक्ति का महत्व अधिक

बालकों के अधिकारों का रूसो महान समर्थक था। उसने शिक्षा के क्षेत्र में बालकों की पूर्ण स्वतन्त्रता की आवश्यकता पर बल दिया। उसने अपनी शिक्षण विधि में बालक एवं उसकी प्रकृति को केन्द्र बिन्दु बनाया। उसने इस बात के महत्व पर बल दिया कि शिक्षा

में विचार करने योग्य मुख्य बात है बालक तथा बालक के रूप में उसकी वर्तमान प्रकृति। उसने लिखा है कि "प्रकृति बालकों को बालक के रूप में ही देखना चाहती है, मनुष्य के रूप में नहीं। बालक स्वयं देखने, विचारने तथा अनुभव करने की उचित व्यवस्था कर लेता है। इससे बढ़कर क्या मूर्खता होगी कि हम अपनी प्रवृत्तियों अथवा अपने रूपों को बालकों के लिए प्रयुक्त करें"। बालकों की रुचि एवं भावना को जाने बिना ही प्रौढ़ व्यक्ति अज्ञानतावश अपनी शक्तियों को बालकों पर प्रतिष्ठित करते हैं। नई पद्धति का सिद्धान्त ही है कि हम बालकों के स्वयं विकसित स्वभाव एवं प्रवृत्ति को समझने का प्रयत्न करें। रूसो का मत है कि "बालक को प्रारम्भ से ही पूर्ण रूप से अध्ययन करो क्योंकि यह निश्चित है कि तुम उनको नहीं जानते हो।"

बालक तथा उसकी प्रवृत्ति शिक्षा का केन्द्र बिन्दु

इस बात पर अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं है कि रूसो का आधारभूत उद्देश्य है नैसर्गिक अच्छाइयों एवं मानवीय हृदय के गुणों की सुरक्षा तथा इन सम्पूर्ण गुणों के सामंजस्य से युक्त समाज की स्थापना। चरम् साध्य है उसका समाज की स्थापना जिसमें श्रेष्ठ सौम्य गुणों यथा—साहस, धैर्य, संयम, समानता, बन्धुत्व, शालीनता, एवं स्वतंत्रता की प्राप्ति एवं अनुभव सभी नागरिकों द्वारा हो। शिक्षा का अभी तक उद्देश्य नागरिकों एवं कारीगरों को उत्पन्न करना ही था। कारीगरों अथवा नागरिकों के निर्माण के कारण शिक्षा ने वास्तविक मानवीय गुणों को घटा दिया। रूसो कहता है कि "तुम मनुष्य अथवा नागरिक में से किसी एक का वरण करलो। तुम दोनों को कभी प्रशिक्षित नहीं कर सकते"। रूसो सामाजिक शिक्षा की अपेक्षा नैसर्गिक शिक्षा को अधिक पसन्द करता है। वह कहता है कि "मेरी इच्छा है

शिक्षा का उद्देश्य-नैसर्गिक शक्तियों का विकास तथा जन्मजात प्रवृत्तियों का प्रकाशन

कि मैं बालक को जीवित रहने की कला का ज्ञान करा दूँ"। रूसो ने उस कठोर और बुरी शिक्षा की कड़ी आलोचना की जो कि वर्तमान को अनिश्चित भविष्य के अन्धे कुएँ में ढकेलती है तथा जो बालक पर अनेक प्रकार की यातनाओं एवं बंधनों को लादना चाहती है तथा जो हमें बालक को बुरा बना देने की शिक्षा देती है। इसके साथ ही वह बालकों को उस दूर की प्रसन्नता के लिए तैयार करता है जो कि बालक अपने जीवन में कभी भी प्राप्त नहीं कर पाता। बालकों को वर्तमान में सफलता प्राप्त करने की शिक्षा देनी चाहिए न कि अन्धकारमय भविष्य की। संक्षेप में रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है नैसर्गिक शक्तियों का प्रकाशन, मानवीय हृदय को उर्वरा करना, प्रत्येक मानव की जन्म-जात प्रवृत्तियों का उद्घाटन तथा ऐसे तार्किक मनुष्यों का विकास करना जो कि बुद्धिमत्तापूर्ण अपने जीवन को विभिन्न परिस्थितियों एवं किसी भी प्रकार के समाज में रहने के अनुकूल निर्मित कर सके।

रूसो ने आवश्यकता के अनुसार दो सहायक शिक्षा-पद्धतियों का वर्णन किया है :—

(१) आदर्श राज्य में जनता एवं राष्ट्रीय शिक्षा की पद्धति।

(२) कृत्रिम समाज में व्यक्तिगत शिक्षा की पद्धति।

जन-शिक्षा

प्लेटो के समान रूसो ने भी कहा है कि अच्छी जन-शिक्षा अच्छे राज्य पर ही अवलंबित है तथा अच्छे राज्य की स्थिरता केवल अच्छी शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। अच्छे राज्य में शिक्षा एक जन-समारोह के समान होता है तथा वह "राज्य का अति आवश्यक कार्य होता है।" इस प्रकार के राज्य में शिक्षा प्रत्येक बालक को दी जाती है। इसका उद्देश्य है एकत्व की भावना को उत्पन्न करना तथा प्राकृतिक गुणों की महत्ता को प्रतिपादित करना। सामूहिक खेल, संगीत एवं देश-भक्ति के प्रशिक्षण द्वारा ही राज्य में एकता की भावना निर्मित होती है। फिर भी उपरोक्त

प्रकार की शिक्षा के प्रचलन से रूसो को पूर्ण निराशा थी। उसे यह विश्वास था कि इस प्रकार की शिक्षा की स्थिरता अति कठिन है। रूसो इस बात से पूर्ण सहमत था कि तत्कालीन अप्राकृतिक एवं दूषित राष्ट्र अपने नागरिकों को शिक्षित अथवा निर्देशित करने में पूर्ण रूपेण अयोग्य थे। यही एक कारण था कि रूसो ने व्यक्तिगत शिक्षा का अति विस्तृत कार्य-क्रम अपनी शिक्षाविषयक ग्रन्थ'एमील' में प्रतिपादित किया।

अप्राकृतिक समाज में शिक्षा

अप्राकृतिक ढंग के समाज में शिक्षा का वास्तविक रूप वह था जिसमें बालक सामाजिक प्रभावों से पृथक रह कर शिक्षा प्राप्त करता था। सामाजिक जीवन में प्रवेश करने के बहुत पहले बालक का व्यक्तित्व, स्वतंत्रता की भावना, आन्तरिक अच्छाई, निर्णय तथा संयम की क्षमता की स्थिरता, सामाजिक प्रभावों को दुर्बल बनाने एवं क्षीण करने के लिए होनी चाहिए।

एमील की समस्या—अमीरों की शिक्षा।

एमील में रूसो ने जिस समस्या को प्रतिपादित किया है वह सम्पूर्ण बालक, अमीर और गरीब, उच्च एवं निम्न कुल में उत्पन्न अथवा जन साधारण के प्रशिक्षण की समस्या नहीं है। रूसो कहता है कि निम्न वर्ग को शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता नहीं है। जीवन की परिस्थितियाँ ही स्वयं उनमें समानता, सादगी, स्वाभाविकता तथा अन्य गुणों को उत्पन्न कर देती है। किन्तु अमीर एवं उच्च कुल में उत्पन्न बालकों को जो कि जन्म से ही सदैव विलासिता के नद में डूबे रहते हैं, नैसर्गिक शिक्षा प्रदान करना अति आवश्यक है। एमील, जो कि इस वर्ग का एक प्रकार से प्रतिनिधित्व करता है, एक ऐसे देश में रहता है जहाँ का जीवन अति सादा है तथा जहाँ सामाजिक संबन्ध नहीं के बराबर हैं जिससे उस स्थान पर वह अपनी प्राकृतिक शक्तियों का विकास कर सके। इस दृष्टिकोण से एमील की शिक्षा को पूर्णरूपेण समझना अति आवश्यक है।

अच्छे परिवार की शिक्षा के प्रभाव की महत्ता पर रूसो अधिक बल देता है। उसने लिखा है "एक पिता ही पिता के समान सुरक्षा दे सकता है तथा माता ही बालकों की देख-रेख माता के समान कर सकती है"। रूसो ने यह घोषित किया कि माता बालिकाओं के लिए और पिता बालकों के लिए प्रकृति-प्रदत्त अध्यापक हैं। एमील के संबन्ध में वार्तालाप करते समय रूसो कहता है "वह अज्ञानी किन्तु बुद्धिमान पिता से, संसार के अत्यधिक विद्या-प्रवीण अध्यापक की अपेक्षा भली-भाँति शिक्षित हो सकता है"। निःसंदेह एक पिता जितना बालकों की समस्याओं आदि को अति निकट से जानता है उतना अध्यापक नहीं, चाहे वह जितना ही विद्वान क्यों न हो।

पारिवारिक शिक्षा

रूसो ने बाल-वि कास में परिपक्वता की विभिन्न अवस्थाओं को पहिचानने अथवा जानने के लिए ध्यान आकृष्ट किया है। बालकों की अपनी आवश्यकतानुसार ही हमें उनका अध्ययन करना तथा समझना चाहिए। रूसो के दृष्टिकोण से वे अवस्थायें विशिष्ट विशेषताओं अथवा कार्यों के द्वारा एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक अति तीव्रता से अलग कर दी गई हैं। जीवन का प्रत्येक काल एक प्रकार की पूर्णता अथवा विशिष्टता से युक्त है। उसमें एक प्रकार की स्वयं की परिपक्वता रहती है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक काल अपने में पूर्ण है। इसी कारण हम उसे तीव्रता से अलग कर सकते हैं। रूसो द्वारा प्रतिपादित विकास की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख पृष्ठ संख्या ४० की सारिणी में किया गया है। आधुनिक बाल-शिक्षण-प्रणाली को देखते हुए हम रूसो द्वारा प्रतिपादित बाल-विकास की आलोचना सरलता-पूर्वक कर सकते हैं। इसका गुण इसकी विकास-विज्ञान के रूप में पूर्णता में निहित नहीं है वरन् सत्यता तो यह है कि उसने शिक्षा में क्रमिक-विकास (Genetic interpretation) की नींव इतनी शक्ति-

बाल-विकास की अवस्थायें

शाली डाली है कि वह वैज्ञानिक शिक्षा-शास्त्रियों द्वारा सदैव स्वीकार किया जावेगा।

सांस्कृतिक युग-सिद्धान्त यह प्रदर्शित करता है कि व्यक्ति के विकास की प्राकृतिक अवस्थायें तथा शिक्षा एवं मानवीय सभ्यता के विकास की अवस्थायें समानान्तर हैं। इस सिद्धान्त को रूसो ने प्रतिपादित तो किया किन्तु उसको इस बात का ज्ञान न था। इस प्रकार के सिद्धान्त के अनुसार बालक प्रकृति के मध्य अपने जीवन का आरम्भ करता है तथा बीस वर्ष की अवस्था में वह सामाजिक प्राणी बन जाता है ठीक उसी प्रकार जैसे कि बीसवीं शताब्दी में मानवता का विकास प्राकृतिक अवस्था से उच्च कोटि के संगठित एवं सांस्कृतिक समाज की ओर हुआ।

संस्कृति-युग-सिद्धान्त (Culture-Epoch-Theory)

'एमील' तथा प्रकृतिवादी शिक्षा

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एमील' में रूसो एक सर्वथा काल्पनिक बालक 'एमील' की शिक्षा का वर्णन करता है। एमील की शिक्षा का जो स्वरूप रूसो प्रस्तुत करता है वह प्राकृतिक है। इस पुस्तक में उसने 'एमील' की भावी पत्नी 'सोफ़ी' की शिक्षा-योजना को प्रस्तुत कर, स्त्री-शिक्षा पर भी प्रकाश डाला है। रूसो ने एमील को उसके माता-पिता एवं पाठशाले से अलग करके समाज से दूर रक्खा है। उसका एक आदर्श अध्यापक की संरक्षता में, प्राकृतिक सौन्दर्य के मध्य शिक्षा प्राप्त करने (विभिन्न शक्तियों के विकास करने) के लिए रक्खा गया है।

'एमील' की शिक्षा

प्राकृतिक विकास के महत्व को प्रदर्शित करते हुए रूसो कहता है कि शिक्षा के तीन महत्वपूर्ण एवं मूल साधन हैं—'प्रकृति'; 'मनुष्य' एवं 'वस्तुयें'। प्रकृति से रूसो का अभिप्राय है जन्म-जात गुण। बिना मानवीय बन्धन के, बालक के गुणों का सहज विकास ही वह प्रकृति

की शिक्षा मानता है। प्राकृतिक मनुष्य का निर्माण करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। "प्राकृतिक मनुष्य जंगली मनुष्य नहीं है अपितु वह स्वयं के प्रकृतिक नियमों द्वारा नियंत्रित एवं शासित है न कि सामाजिक संस्थाओं द्वारा। सामाजिक मिलन के प्रभावों द्वारा मनुष्य की शिक्षा का निर्माण होता है तथा ज्ञान एवं सूचनायें प्राकृतिक तत्वों यथा पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों आदि द्वारा भी प्राप्त होती है जो वस्तुओं से प्राप्त शिक्षा का निर्माण करते हैं। रूसो की यह धारणा है कि मानव एवम् वस्तुओं से प्राप्त शिक्षा प्रकृति-जन्य शिक्षा के अधीन होना चाहिए। रूसो ने प्रकृति को अधिक महत्व दिया क्योंकि उसका विचार था कि नैसर्गिक शक्तियाँ, प्रकृति-जन्य निर्णय, मौलिक संवेग आदि कार्य के लिये अधिक विश्वासनीय है, अपेक्षाकृत उन प्रभावों अथवा अनुभवों के जो कि सामाजिक सम्पर्क के फलस्वरूप विकसित होते हैं।

प्रकृति-मनुष्य-वस्तुएँ शिक्षा के तीन स्रोत; प्रकृति का महत्व अधिक

एमील में बालकों की शिक्षा दो परस्पर विरोधी अवस्थाओं में वर्णित है। (१) प्रकृतिवादी, निषेधात्मक अथवा असामाजिक शिक्षा जिसका विस्तार किशोरावस्था तक है तथा दूसरी अवस्था के लिए पथ का निर्माण करता है ; (२) नैतिक तथा सामाजिक प्रशिक्षण।

निषेधात्मक (निगेटिव) शिक्षा

रूसो के अनुसार बालक की १२ वर्ष की आयु तक शिक्षा पूर्ण निषेधात्मक होगी। "पहली शिक्षा बिलकुल निषेधात्मक होनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि हमें पहले गुण और सत्य के सिद्धान्त नहीं पढ़ाने चाहिये वरन् हृदय को पाप से तथा मस्तिष्क को भ्रम से रक्षा करनी चाहिए"। बालक की सम्पूर्ण शिक्षा स्वच्छन्द नैसर्गिक विकास, उसकी स्वयं की शक्तियों तथा उसकी नैसर्गिक रुचि के मध्य ही पुष्पित एवं पल्लवित होनी चाहिए। निषेधात्मक शिक्षा का

बालक की शक्तियों एवं स्वभाव का स्वच्छन्द विकास

यह अर्थ नहीं है कि बालक को कोई भी शिक्षा न दी जायेगी वरन उसका तात्पर्य रूसो के विरोधाभास में इस प्रकार है : "शिक्षा का उद्देश्य समय का उपयोग नहीं करना है वरन् उसे खोना है। इस समय के बीच अध्यापक अपने विद्यार्थी को किसी भी प्रकार की आक्षरिक अथवा तरतीबवार शिक्षा नहीं देगा, क्योंकि बालक तो केवल 'अनुभव' के द्वारा ही पढ़ाया जायगा। वह स्वभावत: खेल तथा ज्ञानेन्द्रियों के व्यायाम द्वारा ही सीख लेगा"। इस प्रकार बालक की शिक्षा उसकी प्रवृत्तियों और शक्तियों के अनुसार होनी चाहिये। हमें बालकों की इच्छाओं के अनुसार चलना चाहिए। बालक को अपनी प्रकृति एवं स्वभाव के के अनुसार ही शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप न होना चाहिए।

एमील पर की गयी आलोचना के उत्तर में रूसो ने एक पत्र में लिखा है कि "मैं निश्चयात्मक (पाजिटिव) शिक्षा उसे कहता हूँ जो समय के पहले मस्तिष्क को बनाना चाहती है और बालकों को प्रौढ़ पुरुष का कर्त्तव्य सिखलाती है। मैं निषेधात्मक शिक्षा उसे कहता हूं जो ज्ञान देने के पहले ज्ञान के ग्रहण करने वाले अंगों को दृढ़ बनाती है और जो इन्द्रियों के उचित उपयोग से विवेक-शक्ति को बढ़ाती है। निषेधात्मक शिक्षा समय को मूर्खता में व्यतीत नहीं करती वरन् इससे बहुत दूर है। यह गुण नहीं देती, पाप से बचाती है। वह सत्य का ज्ञान नहीं कराती, त्रुटियों से रक्षा करती है। वह बालक को सत्य की की ओर जाने के लिए प्रेरित करती है जब कि बालक इसको समझने की आयु प्राप्त कर लेता है तथा गुण को ग्रहण करने की प्रेरणा देती है जब कि उसको पहिचानने एवं उसके प्रति प्रेम की क्षमता प्राप्त कर लेता है।"

निषेधात्मक शिक्षा—परिभाषा

निषेधात्मक शिक्षा का सिद्धान्त जो कि शारीरिक शिक्षा के लिए प्रयुक्त होता है, बालक की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग करता है तथा

स्वच्छन्द वायु एवं गाँव में जीवन व्यतीत करने को कहता है। बौद्धिक प्रशिक्षण में जब इसका प्रयोग होता है तो यह शिक्षा देता है कि इस काल में बालक के मस्तिष्क को ढालने अथवा प्रेरित करने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया जायगा क्योंकि "बाल्यावस्था तर्क के सोने का समय है।" निषेधात्मक शिक्षा का उपयोग जब नैतिक शिक्षा में होता है तब अध्यापक को नैसर्गिक दण्ड के सिद्धान्त का प्रयोग करना चाहिये। इस नैसर्गिक दण्ड के सिद्धान्त के अनुसार बालक को अपनी भूल पर दंड प्राप्त करना चाहिये। इस दंड में प्रौढ़ व्यक्तियों का कोई निश्चयात्मक हस्तक्षेप न होना चाहिए।

शारीरिक, बौद्धिक, एवं नैतिक प्रशिक्षण में निषेधात्मक शिक्षा का प्रयोग

एमील पाँच भागों में विभाजित है। उनमें से चार एमील की शिक्षा, शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, तथा युवावस्था का वर्णन करता है, तथा पाँचवा भाग 'सोफ़ी' के प्रशिक्षण के सम्बन्ध में है। शिक्षा में प्रतिपादित विभिन्न अवस्थाओं को और अधिक स्पष्टता से जानने एवम् समझने के लिए निम्नलिखित सारिणी को देखना आवश्यक है।

एमील के पाँच भाग

भाग	अवस्था	समय	शिक्षा का रूप
१	शैशवावस्था	जन्म से ५ वर्ष तक	शारीरिक शिक्षा
२	बाल्यावस्था	५ से १२ वर्ष तक	ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा
३	किशोरावस्था	१२ से १५ वर्ष तक	बौद्धिक शिक्षा
४	युवावस्था	१५ से २० वर्ष तक	सामाजिक एवम् नैतिक शिक्षा
५	सोफ़ी की शिक्षा	... ...	दमनवादी एवं रीतिबद्ध शिक्षा

शिक्षा का प्रारम्भ जन्म से ही होना चाहिए। बालक की मात बालक का प्रथम शिक्षक है। "प्रकृति का निरीक्षण करो तथा उन मूल तथ्यों का पालन करो जिसको वह बताती है"। यह वाक्य सामान्य सिद्धान्त के रूप में तथा शैशवावस्था में पथ-प्रदर्शक रूप में प्रयुक्त होना चाहिए। प्रथम शिक्षा स्वछन्द एवम् बालक के नैसर्गिक कार्य-व्यापारों का अविरोधी प्रकटीकरण होना चाहिए। इस शिक्षा का उद्देश्य है सुगठित एवम् बलयुक्त शरीर का निर्माण करना। "शरीर जितना ही कमजोर होगा उतना ही वह दूसरों पर शासन करेगा तथा जितना शक्तिशाली होगा वह उतना ही आज्ञाकारी होगा"। बालक को सरल, स्वच्छन्द तथा स्वस्थ वातावरण के मध्य डाल देना चाहिए। रूसो की सलाह है कि बालक को अपनी शक्ति के पुनरुद्धार के लिए गाँव में भेजना चाहिए। स्थान के परिवर्तन, जलवायु के बदलने तथा भूख, प्यास एवम् थकान को झेलने के लिए बालक के शरीर को खूब कड़ा बना देना चाहिए। उसे डाक्टर अथवा दवाओं से सम्पर्क रखने की कोई आवश्यकता नहीं है जब तक कि उसका जीवन कोई भीषण खतरे में न पड़ जाये। उसके शरीर एवं अंगों को इस प्रकार रखना चाहिए जिससे वह उनको स्वच्छन्दता पूर्वक हिला-डुला सके। उसे कसे कपड़े पहनाकर उसकी इस प्रकार की स्वतन्त्रता में बाधा न उत्पन्न करनी चाहिए। उसकी कायरता को नष्ट करने के लिए उसे धीरे-धीरे भद्दे अथवा असाधारण वस्तुओं से अभ्यस्त करा देना चाहिए। बालक के लिए कोई कार्य न करना चाहिए क्योंकि वह अपने आप ही अपना कार्य कर लेगा। चलने-फिरने, बातचीत करने तथा अपनी सहायता करने के लिए उसमें शक्ति का विकास स्वयम् उसकी आवश्यकता के अनुसार करना चाहिए। यह कार्य यदि कम सहायता से हो सके तो और अच्छा है। बालक के नैतिक एवम् बौद्धिक विकास की ओर थोड़ा सा भी ध्यान नहीं देना चाहिए।

जन्म से पाँच वर्ष तक की शिक्षा

बाल्यावस्था में एमील की शिक्षा का मुख्य रूप होगा, निषेधात्मक शिक्षा, नैसर्गिक परिस्थितियों द्वारा शारीरिक प्रशिक्षण, ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा तथा नैसर्गिक दंड द्वारा नैतिक प्रशिक्षण। रूसो के अनुसार बालक को सब प्रकार के बातों को बतलाने का प्रयास करने के बजाय किसी प्रकार की शिक्षा उसके बौद्धिक विकास के लिए न देनी चाहिए। उसे इस बात की आज्ञा मिल जानी चाहिए कि वह अपने अन्तः-प्रयोजन को कार्यरूप में परिणत कर केवल स्वानुभूति-जन्य ज्ञान ही प्राप्त करे। शरीर को शक्तिशाली बनाने के लिए इस अवस्था में भी शारीरिक शिक्षा पर ध्यान देना चाहिए। एमील के लिए तैरना, उँची और लम्बी कूद, दीवाल फाँदना, तथा चट्टानों पर चढ़ना आदि को सीखने का प्रयत्न करना चाहिए। यह समय विशेषकर ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण का है। "हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ सबसे बलवती होती हैं। इसलिए सबसे पहले उन्हीं की शिक्षा होनी चाहिए, पर इनकी हम बड़ी अवहेलना करते हैं।" प्रत्येक प्रकार के कार्य-व्यापारों के द्वारा वह नापना, गिनना, तौलना एवम् वस्तुओं की पारस्परिक तुलना करना जान जायेगा। जितनी चीजों का वह निरीक्षण करता है उनमें वह दूरी का निर्णय करना, तथा निरीक्षण की हुई वस्तुओं के खींचने का प्रयास करता है। गणित, भाषण, गायन, अंकगणित, रेखागणित आदि को वह स्कूल की कक्षा के विषय के रूप में नहीं सीखता वरन् वह उसे अपने अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान से सीखता है। उसकी शिक्षा की सामान्य नीति होगी "शरीर, इन्द्रियों, तथा शक्तियों को प्रशिक्षित करो किन्तु उसकी आत्मा को जितने अधिक समय तक सुषुप्त रख सको उतना ही अच्छा है"। रूसो इस अवस्था में बालक को सीधे नैतिक शिक्षा देने का पूर्ण विरोधी है। इस अवस्था में नैसर्गिक परिस्थितियों से उत्पन्न अनुशासन के अतिरिक्त और किसी प्रकार की नैतिक शिक्षा नहीं दी जायेगी। यदि बालक खिड़की तोड़ता है तो

पाँच से बारह वर्ष की शिक्षा

उसको इस कार्य से उत्पन्न परिस्थिति को सहने दो। इस सिद्धान्त में जहाँ कुछ प्रत्यक्ष लाभ तथा सत्यता है वहाँ इसके प्रयोग की कुछ सीमायें भी हैं, जो कि इसे मूल निर्देशक के रूप में ग्रहण करने से रोकती है।

किशोरावस्था बौद्धिक शिक्षा का काल है। यह परिश्रम, निर्देश तथा अध्ययन का काल भी है। प्राकृतिक वातावरण को समझना तथा सामाजिक समस्याओं का परिचय इस काल के मुख्य उद्देश्य हैं। विषय के निर्वाचन के लिए बालक की नैसर्गिक जिज्ञासा ही प्रधान कारण तथा मूल श्रोत होनी चाहिए। एमील इस अवस्था में भूगोल, ज्योतिष-शास्त्र तथा प्रकृति-विज्ञान का अध्ययन करेगा। ज्योतिष विज्ञान का ज्ञान वह विभिन्न ऋतुओं में सूर्य के उगने तथा अस्त होने पर अनुभव द्वारा प्राप्त करेगा। भूगोल का अध्ययन वह जंगलों में खोकर रास्ते को ढूढ़ने से करेगा। इस अवस्था में अध्यापन का सामान्य सिद्धान्त होगा "बालकों को जब कभी शिक्षा दो तो उसे कर के दिखा दो, किन्तु यदि प्रत्यक्ष करने का कोई साधन ही न हो तब शब्दों का आश्रय लो"। बालकों के सामने कोई समस्या रख दो और उनको स्वयम् ही उसका उत्तर निकालने दो। उन्हें कुछ न जानने दो क्योंकि तुमने उन्हें बता दिया है वरन् उसने इसे अपने आप सीखा है। तुम उन्हें विज्ञान पढ़ाओ मत, वरन् उन्हें अपने आप विज्ञान की खोज करने दो। वह अपनी आवश्यकतानुसार आवश्यक सामग्रियों का निर्माण भी कर लेगा। प्रत्येक साकार वस्तुओं को प्रत्यक्ष निरीक्षण तथा खोज के द्वारा सीखना चाहिए। अपने सिद्धान्त के अपवाद स्वरूप रूसो एमील के लिए एक पुस्तक पढ़ने की अनुमति देता है। वह पुस्तक है 'राबिन्सन क्रूसो'। रूसो के मत में, "यह पुस्तक प्राकृतिक शिक्षा की एक बहुत सुन्दर एवम् आनन्ददायक रचना है।" श्रम के महत्व को समझने तथा आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए एमील को किसी व्यवसाय का अध्य-

बारह से पन्द्रह वर्ष की शिक्षा

यन भी करना चाहिए। रूसो काष्ठशिल्प-शिक्षा पर अपनी सहमति प्रकट करता है। इस अवस्था में एमील का ज्ञान प्रकृति एवम् वस्तु तक ही सीमित रहना चाहिए। बालक को इतिहास तथा मानव के पारस्परिक नैतिक सम्बन्धों का ज्ञान नहीं कराया जायगा। इस प्रकार की शिक्षा युवावस्था तक के लिए स्थगित रहेगी।

पन्द्रह से बीस वर्ष तक की शिक्षा

निःसन्देह अभी तक तो एमील को उस वास्तविक शिक्षा के लिए तैयार किया जा रहा था जिसका आरम्भ युवावस्था में होता है। अभी तक तो निश्चयात्मक (पाजिटिव) शिक्षा की अपेक्षा निषेधात्मक (निगेटिव) रूप को ही महत्व दिया जा रहा था। किन्तु इस अवस्था में निश्चयात्मक शिक्षा का उल्लेख स्पष्ट रूप से हो जाता है। इस समय एमील को नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा दी जायेगी। इस काल में शिक्षा की वस्तु होगी दूसरों पर प्रेम तथा स्नेह की भावना तथा शिक्षा का लक्ष्य होगा संवेगात्मक विकास एवम् नैतिक पूर्णता। सहयोगियों के सम्पर्क, अध्यापकों के अनुकरण तथा इतिहास के अध्ययन के द्वारा ही वे इस विकास को प्राप्त कर सकेंगे। रूसो के अनुसार इतिहास का अध्ययन मानव प्रकृति को अति सरलतापूर्वक समझने एवम् अध्ययन में सहायक होता है। रूसो के विचार से इस अवस्था में बालकों को जो गुण ग्रहण करने चाहिए वे इस प्रकार है— मित्रता, सहानुभूति, कृतज्ञता, न्याय, अच्छाई इत्यादि। इस स्थान पर पुनः बालकों को इन चीजों में नैसर्गिक रीति से प्रशिक्षित किया जायेगा। रूसो कहता है कि "मैं बार-बार यह कहकर थकना नहीं चाहता कि नवयुवकों को सम्पूर्ण शिक्षा क्रियात्मक रूप में देना चाहिए न कि शब्दों या सिद्धान्तों द्वारा।" एमील इस समय चिकित्सालयों, कारागारों, अनाथालयों में स्वयम् जाकर मानवीय कठिनाइयों एवं कष्टों के स्थूल उदाहरणों को देखेगा। इस समय तक उसके हृदय में धर्म की भावना जागृत नहीं होती थी किन्तु अंत में जब वह प्रकृति का निरीक्षण करेगा तो उसके

हृदय में यह स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न होगी कि इस विराट प्रकृति का निर्माता कौन है। रूसो प्राचीन परम्परावादी अथवा रूढ़िवादी धर्म के पालन न करने पर जोर देता हुआ मानव हृदय-जन्य नैसर्गिक धर्म के अध्ययन एवम् मनन करने का परामर्श देता है। यह अवस्था एमील के लिए अच्छी पुस्तकों के अध्ययन की है तथा इसी समय ही उसके लिए एक चिरसंगिनी की भी आवश्यकता होनी चाहिए और वह चिरसंगिनी होगी 'सोफ़ी'।

एमील नामक पुस्तक के पाँचवे भाग में रूसो 'सोफ़ी' अथवा स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में प्रकाश डालता है। निःसन्देह रूसो स्त्रियों की

सोफ़ी की शिक्षा

शिक्षा के क्षेत्र में अत्यधिक कठोर दृष्टिगत होता है। वह एमील के लिए तो सर्वथा व्यक्तिवादी एवम् नैसर्गिक शिक्षा प्रदान करने की अनुमति देता है, किन्तु बेचारी सोफी को दमनवादी, निश्चयात्मक तथा रीतिबद्ध शिक्षा देना चाहता है। इस प्रकार की पूर्ण विपरीत शिक्षा की सिफ़ारिस करने का कारण स्त्रियों की नैसर्गिक बनावट न होकर जीवन के उद्देश्य नितान्त भिन्न होना ही है। रूसो स्त्रियों को व्यक्तित्व के विकास की आज्ञा न देकर उन्हें पुरुषों की प्रकृति के योग्य बनने के लिए कहता है। वह कहता है कि—"स्त्रियों को पुरुषों के योग्य बनने की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए।" उन्हें इस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे पुरुष की सेवा एवम् सुख पहुँचाने के योग्य बन सकें। संक्षेप में स्त्रियाँ पत्नी एवम् माता बनने के लिए प्रशिक्षित की जायेंगी तथा उन्हें सिलाई, कढ़ाई, सुई का काम, पच्चीकारी, संगीत आदि का अध्ययन करना होगा। इसके साथ ही उन्हें धर्म तथा नैतिक सिद्धान्तों का भी अध्ययन करना होगा।

बाद की शिक्षा पर रूसो का प्रभाव

बाद के विचारकों पर रूसो का जितना गहरा प्रभाव पड़ा है उतना शिक्षा सम्बन्धी अन्य लेखकों का नहीं। एमील की शिक्षा का

तात्कालिक प्रभाव सबसे अधिक जर्मनी तथा स्विटजरलैंड पर पड़ा। वेसडॉ, साल्जमैन तथा कैम्पे प्रभृति विद्वानों ने रूसो के अनेक विचारों का व्यावहारिक रूप में प्रयोग किया है। प्रमुख शिक्षाशास्त्री पेस्टालॉजी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल ने एमील से प्रेरणा प्राप्त की है। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी का कोई भी ऐसा विचारक नहीं है जो कि किसी न किसी रूप में रूसो से प्रभावित न हुआ हो। आधुनिक शिक्षा के विकास के आधारभूत तत्वों यथा मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, सामाजिक आदि के बीज हमें एमील में मिल जाते हैं। शिक्षा में मनोवैज्ञानिक अन्दोलन का रूसो महान नेता था क्योंकि उसने कहा था कि शिक्षा एक नैसर्गिक प्रक्रिया है तथा उसका विकास नैसर्गिक प्रवृत्तियों से ही होता है। शिक्षा के तत्व एवम् साधन पूर्ण रूपेण प्रकृति में रँगे होने चाहिए; रूसो ने यह विचार प्रकट कर आधुनिक शिक्षा में वैज्ञानिक तत्वों का समावेश किया है। अन्त में रूसो ने शिक्षा में सामाजिक तत्वों की नींव उस कथन से डाल दी है जिसमें उसने कहा है कि शिक्षा का उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना होना चाहिए जो कि अपने साथियों के साथ कार्य, तथा सामाजिक गुणों का विकास कर सकें। इस प्रकार शिक्षा-संस्थाओं, विधियों एवम् उद्देश्यों के कई आधुनिक विकासों का बीज हम रूसो की शिक्षा में प्राप्त कर लेते हैं। रूसो के सिद्धान्त के मुख्य प्रभाव डालने वाली चीजें निम्नलिखित हैं:— प्रकृति के अनुसार चलो (बालक की प्रकृति), बालक की सहृदयता पूर्वक देखरेख, शारीरिक कार्यों एवम् खेल-कूद पर अधिक महत्व, क्रियात्मक सीख (अर्थात् करके सीखो), स्वानुभूति से सीखना, ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण, सामाजिक सहयोग तथा व्यावसायिक शिक्षा।





पेस्टालॉजी (१७४६-१८२७)

'मैं शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता हूँ'

—पेस्टालॉजी

अध्याय—३

पेस्टालॉजी

(१७४६—१८२७)

भूमिका

पेस्टालॉजी को साधारणतया आधुनिक योरोपीय शिक्षा-शास्त्र के के पिता के रूप में सम्मानित किया जाता है। बेल (Bell) उसकी प्रशंसा करता हुआ कहता है कि "पेस्टालॉजी महाद्वीपीय पद्धति का अति उदारमति पिता है"। पेस्टालॉजी का सार्वभौमिक जन-शिक्षा की नींव डालने में सबसे अधिक योग रहा है। "उसने शिक्षा में एक नितान्त नवीन दिशा का संकेत किया। इसके साथ ही पेस्टालॉजी ने न केवल नूतन कक्षा वातावरण को जन्म दिया वरन् उसने नवीन सिद्धान्तों पर आधारित नई शिक्षा-पद्धति का भी निर्माण किया"। पेस्टालॉजी ही वह प्रथम शिक्षा-शास्त्री था जिसने सामान्य जनता के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया कि शिक्षा की सम्पूर्ण समस्याओं का निर्धारण बालक के मस्तिष्क के विकास को ही केन्द्र मानकर होना चाहिये। इस प्रकार उसने आधुनिक शिक्षा में मनोवैज्ञानिक आन्दोलन का सूत्रपात किया। अतएव शिक्षा के इतिहास में पेस्टालॉजी के कार्यों का अति उल्लेखनीय महत्व है।

पृष्ठभूमि

पेस्टालॉजी का जन्म आर्थिक सम्पन्नता एवम् उत्तरोत्तर बढ़ती हुई असमानता तथा सामाजिक दुर्व्यवस्था के मध्य हुआ था। स्विट्जरलैंड के राज्यों का शासन अधिकतर पारिवारिक परम्परागत अधिकारों के आधार पर बने एकतन्त्रवाद के द्वारा होता था। सामान्य जनता जो कि अधिकांश रूप में जमीन्दारों की सेवा निष्क्रिय रूप में करती थी अज्ञानता, निर्धनता एवम् दुर्व्यसनों की शिकार थी। सर्वत्र यह भावना फैलाई जाती थी कि सामान्य जनता में राज्य, सम्राट एवम् धर्म के प्रति आदर एवम् प्रेम होना चाहिये। इस बात का ध्यान रक्खा जाता था कि निम्नवर्ग अपनी दशा के अनुकूल आवश्यकता से अधिक शिक्षित न हो सके। सामान्य जनता के लिए शिक्षण-सुविधा अत्यन्त नगण्य थी। विद्यालयों के भवन अत्यन्त खराब थे। शिक्षा का विषय अत्यधिक संकुचित था तथा शिक्षण-पद्धति रूढ़िग्रस्त, परम्परावादी तथा शाब्दिक थी। अध्यापक शिक्षा में बहुत कम रुचि रखते थे तथा उनको बहुत कम वेतन दिया जाता था। इस सम्पूर्ण स्थिति के सुधार के निमित्त पेस्टालॉजी ने अपनी शिक्षा-योजना का निर्माण किया। रूसो के समान ही इसने भी शिक्षा के क्षेत्र में अन्याय, अनैसर्गिकता एवम् समाज के निरन्तर पतन पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। उसने कहा कि "युवावस्था से ही मेरा हृदय तीव्र शक्तिशाली धारा के समान एकान्त एवम् शान्त रूप में गन्तव्य की ओर प्रवाहित होता रहा है—कष्टों एवम् बाधाओं जिसमें मनुष्य डूबा हुआ है उनके कारणों को जानना एवम् उन्हें दूर करना।" पेस्टालॉजी ने यह अनुभव किया कि शिक्षा के द्वारा ही मानव जाति का सुधार एवम् विकास सम्भव है। उसके विचारों को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिये हमारे लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम उसकी जीवनी पर दृष्टिपात करें। उसके विचार उसके स्वयं के व्यावहारिक जीवन के परिणाम हैं जिसका उसने अनुसरण किया है।

जीवन तथा शिक्षा सम्बन्धी रचनाएँ

पेस्टालॉजी का जन्म स्विटजरलैंड के जूरिक (Zurich) नामक नगर में सन् १७४६ में हुआ था। बचपन के पाचवें वर्ष में ही उसके पिता, जो कि एक डाक्टर थे, की मृत्यु हो गई। पिता की आकस्मिक मृत्यु के कारण उसके पालन-पोषण का भार उसकी माता पर आ गया। इस घटना ने उसके जीवन में तथा उसके चरित्र पर एक अपूर्व छाप छोड़ दी। अपनी माता के सद्गुणों का उसके ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। वह स्वार्थहीन भावना से सबके प्रति उदारता का व्यवहार सीख गया। बालक की प्रारम्भिक शिक्षा में माता का व्यवहार एवम् घर की शिक्षा का महत्व वह समझ गया। इसी अनुभव के कारण पेस्टालॉजी ने लिखा कि घर ही पाठशाला का सच्चा नमूना है जहाँ पर स्नेह, ममता और सहकारिता का राज्य होता है। उसके प्रारम्भिक विकास की असफलता का कारण पिता का प्रभाव न होना ही है। पेस्टालॉजी का विचार है कि माता की संरक्षता ने उसमें इतनी अधिक सुकुमारता उत्पन्न कर दी कि उसका प्रारम्भिक स्कूली जीवन पूर्णरूपेण सफल न हो सका। उसने अपने पितामह से अत्यधिक प्रेरणा प्राप्त की। उसका पितामह जूरिक के पास ही एक गाँव में किसान था। वहीं पर पेस्टालॉजी अपनी छुट्टियाँ व्यतीत करता था। यहीं पर दस वर्ष की अवस्था में उसके हृदय में प्रकृति के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। उसने यहीं पर निर्धनता का कुत्सित नग्न चित्र देखा। इन्हीं सब कारणों ने उसके मस्तिष्क में एक समाज-सुधारक बनने का विचार उत्पन्न कर दिया। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में उसने जूरिक के एक विद्यालय में अपना नाम लिखवाया। यहाँ पर वह कुछ श्रेष्ठ एवम् प्रेरणादायक अध्यापकों के सम्पर्क में आया जिन्होंने उसको अत्यधिक प्रभावित किया। किन्तु उसने यह विचार किया कि यह प्रशिक्षण भी अधूरा है क्योंकि यह "व्यावहारिक योग्यता के समुचित

ठोस प्रशिक्षण" की अवहेलना करता है। इसी विचार ने व्यवहार-हीन पुस्तकीय शिक्षा तथा अक्रियाशील विचारों के प्रति तीव्र विद्रोह की भावना को जन्म दिया। जूरिक के स्कूल में उसने रूसो की रचनाओं का अध्ययन किया तथा वह रूसो के क्रान्तिकारी विचारों से बहुत ही प्रभावित हुआ, विशेष रूप से 'एमील' की उसने अति सराहना की।

पेस्टालॉजी पहले मंत्री बना फिर उसने कानून की ओर अपनी रुचि दिखलाई किन्तु इन दोनों ही क्षेत्रों में असफल रहा। इन पदों के ग्रहण करने के पीछे उसका वह सामाजिक विचार था जिससे समाज का नैतिक, राजनैतिक तथा आर्थिक अभ्युत्थान हो सके तथा विशेष रूपेण पतन-ग्रस्त कृषक जीवन को सुधारा जा सके। पेस्टालॉजी एक आदर्श किसान बनना चाहता था। वह पहले एक साधारण किसान के रूप में खेती करने लगा। जूरिक के पास ही कुछ बेकार भूमि पर उसने नई कृषि-प्रणाली के आधार पर खेती करना प्रारम्भ किया। किन्तु पाँच वर्ष के भीतर ही उसका यह प्रयोग भी असफल सिद्ध हो गया। सन् १७६६ में उसने विवाह कर लिया तथा 'न्यूहॉफ' (Neuhof) में रहने लगा। यहीं पर पेस्टालॉजी ने अपनी शिक्षा के आधारभूत तत्वों को स्वानुभव द्वारा अपने बालक को 'एमील' के आधार पर प्रशिक्षित कर विकसित करने का प्रयास किया।

सन् १७७५ से १७८० तक 'निर्धनों के लिए औद्योगिक विद्यालय' का वह संचालन करता रहा। इस विद्यालय में निर्धन एवं अनाथ बालकों को सम्पूर्ण कलाओं तथा कताई-बुनाई और खेती की शिक्षा दी जाती थी। पेस्टालॉजी यहाँ बालकों को नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा भी देता था। अति अल्प समय में ही बालकों के शरीर, मस्तिष्क, नैतिक जीवन एवं सजगता में आश्चर्यजनक उन्नति हुई। इस शिक्षा से बालकों को बहुत लाभ हुआ। किन्तु अर्थाभाव के कारण उसे अपनी पाठशाला बन्द कर देनी पड़ी। उसने बाद की रचना में लिखा

है कि "वर्षों तक मैंने लगभग पचास भिखारियों के मध्य अपना जीवन-यापन किया। मैं अपने भोजन को बाँट कर खाता था तथा उन भिखारियों को मनुष्यों के समान जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देने के लिए स्वयं भिखारी बन गया था।"

बाद के बीस वर्ष उसने विभिन्न प्रकार के सामाजिक, विशेष रूप से शिक्षा पर पुस्तकें तथा पत्रिकाएं लिखने में व्यतीत किया। उसकी सब से महत्वपूर्ण रचना है 'ल्यॉनार्ड एन्ड गरट्रूड' (Leonard and Gertrude) जिसके प्रथम भाग का प्रकाशन सन् १७८१ में हुआ था। इस पुस्तक के द्वारा उसने सामान्य जनता को नवीन शिक्षा के स्वरूप से परिचित कराया। इसमें उसने साधारण ग्रामीण जीवन का चित्र उपस्थित किया है। १७८२ में पेस्टालॉजी ने दूसरी पुस्तक प्रकाशित की जिसका नाम है 'क्राइस्टोफर एन्ड एलिजाबेथ' (Christopher and Elizabeth)। इन पुस्तकों के प्रकाशन के कारण पेस्टालॉजी की ओर फिक्टे तथा कान्ट सरीखे प्रतिष्ठित मनुष्यों का ध्यान आकर्षित हुआ।

सन् १७६८ में पेस्टालॉजी के जीवन-क्रम में पूर्ण परिवर्तन आ गया। उसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित करने के निमित्त निमंत्रित किया गया किन्तु उसने इस निमन्त्रण को यह कह कर ठुकरा दिया कि "मैं एक अध्यापक बनना चाहता हूँ।" इस धारणा से वह 'स्टैंज' (Stanz) नामक गाँव में गया और अनेक अनाथ बच्चों की संरक्षता स्वीकार की। इस विद्यालय में उसने ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जिससे बालकों को सम्पूर्ण शक्तियों का विकास सम्भव था। उसने 'अनुभव और निरीक्षण' द्वारा बालकों को शिक्षा दी। इसी विद्यालय में पेस्टालॉजी के शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्तों का बीज अंकुरित हुआ। इस कार्य का फल यह हुआ कि उसने संसार को सन् १८०१ में अपनी सर्वाधिक विधिवत रचना 'हाऊ गरट्रूड टीचेज हर चिल्ड्रेन' (How Gertrude Teaches her Children) दी। इस पुस्तक में यह प्रदर्शित किया गया

है कि कैसे माताओं को अपने बालकों का निरीक्षण करना चाहिये। पेस्टालॉजी की ख्याति को प्रतिष्ठित करने वाली वस्तु थी उसके द्वारा स्थापित दो विद्यालय। पहला विद्यालय 'बर्गडॉर्फ' (Burgdorf) में १८०० से १८०४ तक था जहां पर उसने अपने उद्देश्य का उद्घाटन किया कि "मैं शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता हूँ।" इसी प्रकार का दूसरा विद्यालय 'वरडन' (Yuerdun) में १८०५ से १८२५ तक था। इस विद्यालय में पेस्टालॉजी की योजना शिक्षकों को प्रशिक्षित करने की थी तथा साथ ही शैक्षिक सुधार के लिये प्रयोगात्मक रूप प्रस्तुत करना भी उसका उद्देश्य था। देश-देश के शिक्षक विशेष रूपेण योरप के देशों के शिक्षक इस संस्था में शिक्षा ग्रहण करने के लिये आते थे। इन शिक्षकों में फ्रोबेल, हरबार्ट, राबर्ट ओवेन, एन्ड्रू बेल, डा० मेयो, रीटर आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण योरप में 'वरडन' को एक शिक्षा-तीर्थ के रूप में श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाने लगा।

पेस्टालॉजी के अन्तिम दिन अत्यन्त कष्ट एवं दुखों के बीच व्यतीत हुए। उसके द्वारा 'वरडन' विद्यालय को अन्तिम रूप से बचाने के कारुणिक प्रयत्न को पढ़कर वास्तव में हृदय द्रवीभूत हो जाता है। वह घटना बरबस नेत्रों को अश्रुसिक्त कर देती है जिसमें पेस्टालॉजी ने एक दूसरे विद्यालय की स्थापना का विफल प्रयास किया था। अपने आलोचकों को उत्तर देते देते ही उसका जीवन पूर्ण हो गया और वह १८२७ ई० में इस संसार से चल बसा। मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व उसने संसार को 'दि स्वान सॉंग' (The swan song) तथा 'माई एक्सपीरियेन्सेज' (My Experiences) नामक दो रचनाएँ दी। इसमें उसके विचारों की चरम परिणति दृष्टिगोचर होती है।

समय के महान विद्वानों ने पेस्टालॉजी के प्रति श्रद्धा के भाव व्यक्त किये हैं। उसके जीवन के साहसिक कार्यों की प्रशंसा में उसके देश के नागरिकों द्वारा अपित श्रद्धाञ्जलि ही सर्वश्रेष्ठ है। पेस्टालॉजी के स्मारक पर निम्नलिखित स्मृति-लेख अभी तक अंकित है:—

यहीं विश्राम ले रहें हैं
हेनरी पेस्टालॉजी
१२ जनवरी १७४६ को जूरिक में जन्म
१७ फरवरी १८२७ में ब्रग में निधन

न्यूहाफ में निर्धनों का रक्षक; स्टान्ज में अनाथों
का पिता; बर्गडार्फ में लोकप्रिय विद्यालय का
संस्थापक; वरडन में मानवता का शिक्षक;
मनुष्य, ईसाई तथा नागरिक। सबके
लिये सब कुछ अपने लिए
कुछ भी नहीं।

उनके अवशेषों को शान्ति प्राप्त हो
अपने पिता पेस्टालॉजी की याद में।

पेस्टालॉजी के शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त

शिक्षा सामाजिक अभ्युत्थान का एक साधन

पेस्टालॉजी की दृष्टि में शिक्षा एक सामाजिक परिष्कार का साधन है। समाज को पुनः अंकुरित कर विकसित कराने वाली तथा सामान्य जनता की अज्ञानता, दासता एवं गहन यातनाओं से सुरक्षा प्रदान करने वाली शिक्षा की इस अतुलित शक्ति पर पेस्टालॉजी का दृढ़ एवं अटल विश्वास था। उसका यह अपना विश्वास था कि शिक्षा के प्रभाव के द्वारा ही प्रत्येक मनुष्य की उन्नति उस स्तर तक हो सकती है जहाँ पर वह बौद्धिक दृष्टि से स्वतन्त्र तथा नैतिक दृष्टि से स्वाधीन जीवन व्यतीत कर सके। उसने यह आवाज लगाई कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता एवं स्वाधीनता प्राप्त करने का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है। मनुष्य इस स्तर तक अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के उचित विकास के द्वारा ही पहुँच सकता है। समाज का यह कर्त्तव्य

है कि मनुष्य की योग्यताओं का पूर्ण रूपेण विकसित करने का अवसर प्रदान करें। यह कार्य वस्तुतः तभी सम्भव है जब कि अच्छे विद्यालय सुलभ हों, उच्च नैतिक स्तर हो तथा सुदृढ़ एवं स्वस्थ अध्यापन विधि हो। पेस्टालॉजी का यह ध्येय था कि शिक्षा सबके लिये उपलब्ध होनी चाहिये यहाँ तक कि निम्न से निम्न एवं निर्धन से निर्धन व्यक्तियों के लिये भी सुलभ होनी चाहिये। इस प्रकार उसने सार्वभौमिक जन-शिक्षा की नींव डाली।

पेस्टालॉजी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा केवल बालक के आंगिक विकास की ही शिक्षा है। उसने बालक को एक प्राकृतिक बनावट के रूप में स्वीकार किया है जिसमें उसके आन्तरिक जीवन का विकास निश्चित, विधिवत नियमों के आधार पर होता है। मानव विकास को स्पष्ट करने लिये पेस्टालॉजी ने एक वृक्ष की उपमा दी है। उसने कहा है "एक छोटा सा बीज जिसमें सम्पूर्ण वृक्ष का स्वरूप निहित है, बो दिया जाता है। वह उपयुक्त वातावरण पाकर सम्पूर्ण वृक्ष बन जाता है। बालक भी बीज के समान है। बालक में वे शक्तियाँ छिपी हैं जो जीवन-काल में विकसित होने वाली हैं"। बालक की अन्तरात्मा में निहित अविकसित शक्तियाँ अपने उचित उद्घाटन अथवा प्रकाशन की प्रतीक्षा करती हैं। बालकों की इन शक्तियों के विकास में शिक्षा को अवश्य ही सहायक होना चाहिए।

आंगिक विकास (Organic Development)

पेस्टालॉजी ने यह प्रतिपादित किया कि मानव में तीन प्रकार की विभिन्न शक्तियाँ निहित हैं। वे शक्तियां हैं—मानसिक, शारीरिक, नैतिक तथा धार्मिक। इनका सर्वविदित नामकरण है 'मस्तिष्क', 'हाथ' तथा 'हृदय'। इन तीनों शक्तियों का विकास अपने नैसर्गिक रूप में होना चाहिए। शिक्षा के ये तीनों रूप व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास के लिए सामान्यतः साथ ही साथ कार्य करते हैं। अतः व्यक्ति के

समस्त शक्तियों का सर्वाङ्गीण विकास ही शिक्षा का उद्देश्य

सर्वाङ्गीण विकास के लिए इन्हें एक साथ चलना चाहिये। पेस्टालॉजी ने शिक्षा की परिभाषा "मनुष्य की समस्त शक्तियों एवम् गुणों के नैसर्गिक, प्रगतिशील एवम् सर्वाङ्गीण विकास के रूप में दी है। पेस्टालॉजी के विचार से बालक की प्रकृति का विशिष्ट एकाङ्गी विकास सर्वथा अप्राकृतिक एवम् निराधार है। मनुष्य की सम्पूर्ण शक्तियों की पूर्णता में ही शिक्षा नाम की सार्थकता है। वास्तविक शिक्षा बालक को मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक सभी रूप में पूर्ण रूपेण विकसित कराने में ही है। शिक्षा की सफलता उसी समय है जब कि 'मस्तिष्क' 'हाथ' तथा हृदय का उचित प्रशिक्षण हो।

शारीरिक एवम् बौद्धिक पक्ष की अपेक्षा नैतिक पक्ष अधिक महत्वपूर्ण

यद्यपि मानव-प्रकृति के उपरोक्त तीनों गुण अति आवश्यक हैं किन्तु सब का एक समान ही महत्व नहीं है। इसमें से एक गुण का अधिक महत्व है और वह गुण ही वास्तव में केन्द्र है। पेस्टालॉजी का विचार है कि मानव का नैतिक जीवन सर्वप्रमुख है तथा मानसिक एवम् शारीरिक गौण तथा सहायक हैं। मनुष्य को अपने बौद्धिक गुण का पूर्ण विकास करना चाहिये। उसे निर्माणात्मक कार्यों में भी रत होना चाहिये तथा इसके अतिरिक्त उसे उत्पादन की क्रिया को सीखना चाहिये, किन्तु उपरोक्त दोनों चीजें मानव के लक्ष्य नहीं हैं। पेस्टालॉजी कहता है कि मनुष्य के नैतिक-धार्मिक पक्ष का विकास " मेरी सम्पूर्ण शिक्षा-विधि की आधारशिला है।" प्रमुख लक्ष्य पूर्ण व्यक्तित्व को प्राप्त करने में है। पूर्ण व्यक्तित्व में अन्य मनुष्यों के व्यक्तित्व से तथा चरम सत्ता से सम्बन्ध स्थापित करने का गुण विद्यमान रहता है। नैतिक एवम् धार्मिक जीवन का ही यह कार्य है कि वह अन्य शक्तियों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करें तथा उन्हें एकात्म कर दें।

बालक की आन्तरिक शक्तियों का विकास सहज ही होता है क्योंकि उसके अन्तरात्मा के बीज जागृत रहते हैं। एक बार बालक की उस

सहज आन्तरिक गुणों को जागृत कर पुनः उसे परिपक्व बनाने की भी चेष्टा करनी चाहिए। अतएव आन्तरिक चरित्र के अनुसार विकास सहज एवम् मुक्त रूप में होना चाहिये। पेस्टालॉजी के अनुसार "सीखना एक सहज प्रक्रिया होनी चाहिये। वह बन्धनविहीन कार्यों का परिणाम और एक जीवित एवम् मौलिक उत्पत्ति है। अन्य सभी शैक्षिक नियंत्रण अथवा निर्देशन बालकों के ऊपर न लादकर उन्हें स्वयं ही विकसित होने का अवसर प्रदान करना चाहिये।" बालकों के कोमल मस्तिष्क पर जबरदस्ती ज्ञान को ठूसना अप्राकृतिक एवम् हानिकारक है। शिक्षा का यह कर्त्तव्य है कि वह बालक का पथ प्रदर्शित करे तथा उसे स्वानुभव की ओर प्रेरित करे और आन्तरिक शक्ति एवम् अभ्यास को केन्द्र बनाकर ज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभवों का संगठन एवम् निर्देशन करे।

विकास सहज, निर्बन्ध तथा मुक्त होना चाहिये

बालक का विकास उसके आन्तरिक, नैसर्गिक नियमों के आधार पर होता है अतएव सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति को मोटे शब्दों में निम्नलिखित नियम के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है "प्रकृति द्वारा प्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करो।" इस प्रकार शिक्षा नैसर्गिक विकास की कला बन जाती है। एक अध्यापक का कर्त्तव्य "बालक को किए गये प्रयत्न में सहायता करने" से अधिक कुछ और नहीं है। पेस्टालॉजी उन शक्तियों की उपेक्षा करता है जो बालक के विकास में बाधक हैं तथा उन वस्तुओं को प्रश्रय देता है जो कि बालक की नैसर्गिक शक्तियों को प्रकट करने में सहायक होती हैं। पेस्टालॉजी के ही शब्दों में "अध्यापक एक माली के समान है जिसकी संरक्षता में हजारों पेड़-पौधे उगते और पनपते हैं। उनके प्राकृतिक विकास में उसका कुछ भी योग नहीं रहता। विकास की सम्भावना अथवा शक्ति तो स्वयं वृक्षों में ही निहित रहती है। वह

'प्रकृति के अनुरूप कार्य करो—' अध्यापक एक माली के समान

पौधों को धरती में बो देता है, उनको जल देता है किन्तु उन्हें विकास तो ईश्वर देता है। यही बात शिक्षक के लिये भी है। वह बालक में अपनी शक्तियों का आरोपण नहीं करता। वह केवल यह देखता है कि बाह्य विध्वंशकारी शक्तियाँ उन्हें नष्ट या विकृत अथवा हानि न पहुँचाने पावें। वह इसको भी देखता है कि विकास अपने नियमों के आधार पर हो रहा है अथवा नहीं।" अतएव शिक्षा सम्बन्धी गवेषणा का प्रथम कार्य होना चाहिये निरीक्षण द्वारा विकास के नियमों की खोज; बालक को अप्रकट शक्तियों एवम् परिवर्तित आवश्यकताओं की खोज तथा बालक की सम्पूर्ण शक्तियों एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान की परिधि को क्रम से ठीक करना।

पेस्टालॉजी का अपना यह मत था कि बौद्धिक शिक्षा तथा औद्योगिक प्रशिक्षण दोनों साथ साथ चलें किन्तु सामान्य शिक्षा, धनोपार्जन सम्बन्धी शिक्षा के अपेक्षाकृत पहले आनी चाहिए, अर्थात् सामान्य शिक्षा को अधिक महत्व प्रदान किया जाना चाहिए। किसी विशेष उद्योग में प्रशिक्षित होने के पूर्व मानवीय प्रकृति का उत्थान उसके आधारभूत शक्तियों यथा विचार एवं नैतिक आचरण के विकास के द्वारा हो जाना चाहिये।

धनोपार्जन सम्बन्धी शिक्षा की अपेक्षा सामान्य शिक्षा का अधिक महत्व

पेस्टालॉजी ने शिक्षा में वर्ग-विभाजन के महत्व को अत्यधिक जोरदार शब्दों में प्रतिपादित किया है। अध्यापन कार्य का वर्गीकरण होना अति आवश्यक है। "बालक की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसकी विकसित शक्तियों की सीमा के आधार पर यह विभाजन होना चाहिये"। यह वर्गगत विभाजन अध्यापन के विषयवस्तु के आधार पर सरल विषयों से कठिन और कठिनतर विषयों के अनुसार क्रमबद्ध किया जायेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि बालक की आवश्यकताएँ उसकी ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता के अनु-

शिक्षा के लिए वर्गगत विभाजन अति आवश्यक

रूप ही होगी। इस विषय पर पेस्टालॉजी ने कहा है "प्रत्येक वस्तु जिसको बालक को सीखना है उसकी शक्ति के अनुरूप ही होनी चाहिये। अधिक कठिन और जटिल ज्ञान की प्राप्ति उसी मात्रा में होगी जिस मात्रा में उसकी अवधान, निर्णय तथा विचार की शक्तियों का विकास होगा।"

स्कूल की आवश्यक मान्यता के रूप में युग युग से चली आई अति कठोर अनुशासन प्रणाली का पेस्टालॉजी ने कड़ा विरोध किया। उसकी मूल प्रकृति ही अनैतिक है ऐसा उसका विचार था। उसने इसके स्थान पर एक प्रतिबन्ध-युक्त किन्तु स्नेहमयी अनुशासन प्रणाली को प्रस्तावित किया। उसने विद्यालय को एक सुन्दर, सुखद एवं स्नेहपूर्ण विचारों से परिपूर्ण घर के निकट खड़ा करने का प्रयास किया। उसका यह विश्वास था कि अच्छा घर एक आदर्श विद्यालय है क्योंकि वह सब की भलाई के लिये किये गये सक्रिय सहयोग एवम् प्रेम का केन्द्र है। चूंकि घर के लिए यह सुविधाजनक नहीं है कि बड़े पैमाने पर समाज के व्यक्ति को शिक्षित किया जाय, अतएव इस कार्य के लिये विद्यालयों की आवश्यकता है। पेस्टालॉजी ने यह विचार व्यक्त किया कि उत्साह एवम् अनुशासन में विद्यालयों को घर के वातावरण का अनुकरण करना चाहिए। अध्यापक के लिये यह आवश्यक है कि वह एक पिता के समान ही प्रत्येक बालक की ओर व्यक्तिगत ध्यान देकर उनसे स्नेह का व्यवहार करें। अनुशासन का रूप यद्यपि नम्र किन्तु फिर भी कड़ा और दृढ़ होना चाहिये।

प्रेम पर आधारित अनुशासन

पेस्टालॉजी की शिक्षण-विधि

शिक्षा सम्बन्धी कृत्यों को सुधारने में पेस्टालॉजी प्रथम और उच्च-कोटि का व्यावहारिक मनुष्य था। शिक्षा सम्बन्धी उसके कुछ प्रमुख प्रभावशाली दान शिक्षण-विधि के क्षेत्र में किए गए थे। इस दृष्टि से

बालक के प्रशिक्षण सम्बन्धी उसके प्रारंभिक विचार अति महत्वपूर्ण हैं ।

मस्तिष्क के विकास की सामान्य गति

उसका यह मत था कि शिक्षण के विभिन्न विभागों का प्रारम्भ मस्तिष्क के विकास की सामन्य गति के आधार पर ही निर्धारित होना चाहिए। यहाँ पर उसने तीन सुव्यवस्थित स्तरों का वर्णन किया:—(१) अस्पष्ट इन्द्रिय अनुभव (२) स्पष्टता एवम् वर्णन (३) वर्गीकरण एवम् परिभाषा ।

पेस्टालॉजी के अनुसार इन्द्रिय-अनुभव ही मानव शिक्षा की एकमात्र आधारशिला है। मस्तिष्क में सर्वप्रथम अति अस्पष्ट इन्द्रिय-

अस्पष्ट इन्द्रिय-अनुभव से स्पष्ट विचार की ओर

अनुभव होता है। "हमारी आँखों के समक्ष यह संसार एक भ्रमात्मक इन्द्रिय-अनुभव का समुद्र ज्ञात होता है।" ध्यान के द्वारा वे अनुभव अति स्पष्ट होते जाते हैं। संवेदनाओं के समूह से कुछ वस्तुएँ निकलकर हमारे नेत्रों के समक्ष आ जाती हैं जो कि हमारे अनुभव की इकाई बन जाती है। विकास के अगले काल में ये अस्पष्ट अनुभव हमारे समक्ष अति स्पष्ट हो जाते हैं अर्थात इस अवस्था में वस्तु के रूप तथा गुणों को हम पहचान लेते हैं तथा उसका वर्णन कर देते हैं। अंतिम अवस्था उस समय आती है जब कि वस्तु का संबन्ध दूसरी वस्तुओं से होने लगता है। उसे हम वर्गीकरण कर देते हैं तथा उसकी परिभाषा दे डालते हैं। इस प्रकार वे स्पष्ट प्रतिमाएँ निश्चित विचारों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। इस प्रकार मन अनिश्चित से निश्चित इन्द्रिय-अनुभव की ओर फिर निश्चित इन्द्रिय-अनुभव से स्पष्ट प्रतिमा की ओर तथा स्पष्ट प्रतिमा से निश्चित विचारों की ओर परिभ्रमण करता रहता है।

अनिश्चित इन्द्रिय-अनुभव से निश्चित विचारों के परिवर्तन में शिक्षा अपना एक महत्वपूर्ण योग प्रदान करती है। "अध्यापक का यह कार्य है" पेस्टालॉजी कहता है "कि वह प्रथम इन्द्रिय-अनुभव के

भ्रम को दूर करें, वस्तुओं को अधिक स्पष्ट करने के लिए एक दूसरे से अलग कर दे, उन सभी वस्तुओं को एक साथ एकत्र कर दे जो कि एक समान हैं या एक दूसरे से सम्बन्धित हैं इस प्रकार निश्चित विचारों को स्पष्ट करने में सहायता प्रदान करे।" इस प्रकार अध्यापक को बालक को निर्देशित करना चाहिए तथा प्रत्येक अवस्था में ठीक एवम् निश्चित विचारों के उत्पादन में सहायता प्रदान करनी चाहिये।

अध्यापक का कार्य

पेस्टालॉजी का यह विचार है कि मस्तिष्क की यह स्वभाविक प्रवृत्ति है कि जब उसे अस्त-व्यस्त वस्तुओं का साक्षात्कार होता है तो वह तीन बातें करता है। वे हैं : (१) गिनती करना (२) रूप देना (३) नामकरण करना। अस्त-व्यस्त वस्तुओं के समूह से वस्तुओं को अलग अलग करने या विभिन्न उपविभागों में विभाजित करते समय मस्तिष्क को गिनती करनी पड़ती है। मस्तिष्क वस्तु के आकार एवम् रूप से परिचित होकर उसे एक सुन्दर सा नाम, जो कि विगत अनुभव के द्वारा पहले से ही मस्तिष्क में विद्यमान है, दे देता है। "विचारों का विकास" पेस्टालॉजी कहता है "इन्हीं तीन विधियों से निश्चित होता है। वह तीन विधियाँ है गिनती, रूप तथा भाषा अर्थात् इस बात को समझना कि कितनी प्रकार की वस्तुएँ हैं, उनके रूप को निश्चित करना तथा उन्हें किसी नाम से पुकारना।" वह कहता है कि अपने जीवन में हम जितने भी विचारों को ग्रहण करेंगे हमें इन तीनों विभागों अथवा उनमें से किसी के बीच से होकर गुजरना पड़ेगा। अतएव बालक को इन तीन स्तरों का समुचित ज्ञान होना चाहिये तथा वह अध्यापन जिसे वह ग्रहण करता है उसके तीन अंग होने चाहिये अर्थात् (१) संख्या अथवा गिनती में निर्देश या प्रशिक्षण अर्थात् अंक-गणित (२) रूप या आकार से सम्बन्धित प्रशिक्षण अर्थात् कला एवम् लिखना और (३) नाम और विचारों में प्रशिक्षण अर्थात् भाषा।

विचारों के विकास के तीन अंग : गिनती, रूप, नामकरण

संख्या, रूप एवम् भाषा के ठीक विचार के लिए इस पद्धति की आवश्यकता है कि बालक स्वयम् अपने अनुभव से वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान करे। पेस्टालॉजी ने इस प्रकार अपने सुप्रसिद्ध सिद्धान्त 'ऑन्शवॉङ्ग' (Anschauung) को प्रतिपादित किया है। 'ऑन्शवॉङ्ग' शब्द जिसका पर्यायवाची शब्द निर्मित करना कठिन है, का तात्पर्य है 'इन्द्रिय-अनुभव', 'निरीक्षण', 'अन्तर्ज्ञान, या 'प्रथम अनुभव'। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि 'निरीक्षण' ही सम्पूर्ण शिक्षा अथवा निर्देश का आधारभूत अंग होना चाहिए। उसने सम्पूर्ण विषयों के मौखिक अध्यापन पर बल दिया। पेस्टालॉजी ने केवल शब्दों एवम् तथ्यों के अध्यापन की बात को अस्वीकृत कर दिया क्योंकि उसका विचार था कि मनुष्यों के लिए शब्दों की सत्यता अथवा वास्तविकता नहीं है जब तक कि वह मनुष्य के प्रत्यक्ष-ज्ञान पर आधारित न हो। उसने वास्तविक अध्ययन को प्रतिपादित किया जो कि निरीक्षण, प्रयोग एवम् तर्क पर आधारित है। रूसो के समान ही पेस्टालॉजी का भी यह अपना विचार था कि हमें बालकों को शब्दों की अपेक्षा वस्तुओं से अध्यापन कराना चाहिए। अध्यापक के लिये उसकी सलाह है कि "शिशुओं के सामने जितनी कम वस्तुओं का नाम लिया जाय उतना ही अच्छा है, जब तक कि तुम बालक के समक्ष सम्पूर्ण वस्तुओं को दिखाने के लिए तैयार न हो जाओ। जिन वस्तुओं को बालक के सामने लाने में कठिनाई हो उन वस्तुओं के चित्र दिखलाकर बालक को समझाया जा सकता है।" इस प्रकार निरीक्षण ही उसके शिक्षा का आधार बन जाता है। इसके अतिरिक्त पुनः पेस्टालॉजी कहता है कि बालक को अपने स्वनुभव एवम् प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा प्राप्त विचारों को व्यक्त एवम् स्पष्ट करने के लिए भी प्रेरित करना चाहिये। इस प्रकार वह सहज ही में सम्पूर्ण शिक्षा में निरीक्षण के साथ शब्दों का भी सम्बन्ध जोड़ लेगा।

'ऑन्शवॉङ्ग' अथवा निरीक्षण सम्पूर्ण शिक्षा का आधार,

पेस्टालॉजी ने निगमन-विधि (Deductive Method) जिसमें अध्यापन का प्रारम्भ नियम एवम् सिद्धान्त के आधार पर होता है, की उपेक्षा की तथा आगमन-विधि (Inductive Method) का जिसमें बालक अनुभव के साधारण तत्वों से प्रारम्भ कर उसे अर्थयुक्त 'पूर्ण' (whole) से सम्बन्धित कर देते हैं अनुसरण किया। उसने सम्पूर्ण विषयों को उनके सरलतम तत्वों (उनका क, ख, ग) तक विभाजित कर दिया तथा उनका विकास स्तरगत अभ्यासों के प्रगतिशील क्रम द्वारा किया। उसने शिक्षण प्रक्रिया को बालक के नैसर्गिक विकास से सम्बन्धित कर मनोवैज्ञानिक एवम् संगठित करने का प्रयास किया। जो विषय अति शीघ्रता से समझ में न आवे अथवा सरलतापूर्वक उसपर अधिकार न होने पाए, उसको न सीखना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक अवस्था में अनुभव को बार-बार दोहराना एवम् व्यवहार में लाना अति आवश्यक है।

आगमन-विधि; विषय को उसके सरलतम तत्वों तक विभाजित करना

मानसिक विकास में सहायक अन्य कई सिद्धान्तों का उल्लेख भी पेस्टालॉजी ने किया है। उसने इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है कि 'सीखना' ज्ञात वस्तु से अज्ञात की ओर अर्थात् सरल से जटिल की ओर होना चाहिये। उसने तत्कालीन सर्वप्रचलित विधि "अस्पष्ट साधनों द्वारा अज्ञात को प्राप्त करने को सिखलाना" की अति कठोर आलोचना की है। इसके अतिरिक्त दूसरा सिद्धान्त जो कि उसके शिक्षण-विधि की विशेषता है वह यह है कि स्थूल से सूक्ष्म की ओर तथा विशिष्ट से सामान्य की ओर जाना। उसने इस बात का डटकर विरोध किया कि सामान्य रूढ़िगत विचारों को निरर्थक शब्दों के रूप में बालक को न सिखलाना चाहिये।

सरल से जटिल; स्थूल से सूक्ष्म; विशिष्ट से सामान्य की ओर

स्कूलीय विषयों की विधि

विभिन्न स्कूलीय विषयों के अध्यापन के लिए पेस्टालॉजी ने अपने सुप्रसिद्ध सिद्धान्त 'ऑन्श्चॉङ्ग' के प्रयोग का अति प्रशंसनीय प्रयास किया है। उसकी नई विधि ने विद्यार्थी को कार्य तथा मौखिक अध्यापन के उपयोग करने तथा वास्तविक वस्तुओं को अध्ययन और सीधे अनुभव की प्राप्ति के लिए प्रेरित किया। उसके इस सिद्धान्त में निम्नलिखित मौलिकता एवम् नवीनता है : मौखिक अभिव्यक्ति तथा भाषा सम्बन्धी कार्य में शाब्दिक-विधि का प्रयोग, प्रारम्भिक तथा मानसिक अंकगणित, प्रत्यक्ष नैसर्गिक वातावरण से भूगोल एवम् प्रकृति का अध्ययन आदि।

(१) भाषा-शिक्षण

(अ) *मौखिक भाषा*—पेस्टालॉजी ने मौखिक भाषा को अपनी *शिक्षा-पद्धति में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया है।* आधुनिक प्रारम्भिक अध्ययन में जो मौखिक भाषा-पद्धति अति महत्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित है उसका सर्वप्रथम श्रेय पेस्टालॉजी को ही है। आधुनिक समय के कुछ श्रेष्ठ भाषा-अध्यापकों ने पेस्टालॉजी के ही इस सिद्धान्त को ग्रहण किया है कि पढ़ने की अपेक्षा बातचीत करना अधिक महत्वपूर्ण है। जब तक कि बालक विचार तथा अनुभव करना नहीं सीख जाते तथा जब तक अपने चारों ओर व्याप्त विश्व के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते तब तक पढ़कर सीखने का कोई महत्व ही नहीं है। बालक जो कुछ भी देखता, अनुभव करता एवम् सुनता है उसके वर्णन करने में लगातार अभ्यास करने से बालक भाषा के शब्द-समूह एवं रचना पर अपना पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेगा। अतएव भाषा-शिक्षण बालक के उचित स्तर तक 'उचित अभिव्यक्ति' के अभ्यासों में निहित है। व्याकरण का अध्ययन बहुत समय तक भाषा सम्बन्धी

प्रयोग के क्रमिक, सतर्क एवं आद्योपान्त अध्ययन के पश्चात् होना चाहिए।

(ब) *पढ़ना*—पढ़ने में पेस्टालॉजी ने शाब्दिक-विधि का अनुसरण किया। उसने स्वर-ध्वनियों (Vowel sounds) को भाषा का सरलतम तत्व माना है। स्वर-ध्वनियों एवम् व्यजंनों (Consonants) को जोड़ देने से शब्दों का निर्माण तथा वाक्य-समूहों का संयोजन होता है। फलस्वरूप उसने बालकों को अर्थहीन वाक्य समूहों को अथक रूप में दुहराने के लिये कहा। उसने बालकों से वर्णमालाओं का अभ्यास कराना प्रारम्भ किया तथा इसी अभ्यास के माध्यम से उसने बालकों को स्वर-ध्वनि-समूह तथा शब्द और शब्द से वाक्यांशों एवं पूर्ण वाक्यों की ओर ले जाने का प्रयास किया। परन्तु यह उसकी भूल थी क्योंकि इस पद्धति से 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' सिद्धान्त का विरोध होता है। उसे इस बात की ओर जागरूकता नहीं थी कि भाषा का मनोवैज्ञानिक मूल उद्गम पूर्ण शब्द अथवा अभिव्यक्ति है जिसमें उसका अर्थ भी सम्मिलित है। भाषा का विकास अर्थहीन ध्वनि-समूहों के अभ्यास पर आधारित नहीं है, वरन् वह तो विचारों को व्यक्त करने वाले शब्दों से ही होता है।

(स) *लिखना*—लिखने के तत्वों को विभाजित करने एवं उनके वैज्ञानिक विकास के प्रयत्न के निमित्त बालकों ने सीधे, तिरछे आदि रूप में रेखाओं को खींचने का अभ्यास करना प्रारम्भ कर दिया। आधारभूत कोण या रेखा द्वारा अभ्यास करने से लिखना अति शीघ्रता से सीखा जा सकता है, तथा इसके द्वारा लिखने की बुरी आदतों के विकास को रोका जा सकता है, ऐसा उसका विश्वास था। फिर भी पेस्टालॉजी ने लिखने को यान्त्रिक अभ्यास से अधिक कुछ और नहीं समझा। लेखन एक ऐसी कला है जिससे भाषण को लिखा जा सकता है, विचारों को विस्तृत एवं स्पष्ट किया जा सकता है तथा कल्पना का अभ्यास किया जा सकता है।

(२) *अंकगणित*

पेस्टालॉजी के समय में गणित की शिक्षा का वास्तविक अर्थ कुछ "अंकों को यंत्रवत" लिखने से था। उसने इस विधि का विरोध किया। उसने लिखित गणित की अपेक्षा मौखिक एवं मानसिक गणित को अधिक उपयोगी समझा। अंकगणित के अध्यापन के लिए तथा बालकों को ठीक प्रकार से अंकों को समझाने के निमित्त उसने सरलतम मार्ग खोजना प्रारम्भ कर दिया। पेस्टालॉजी के पूर्व नियमों को याद कर लिया जाता था तथा 'उदाहरणों' का प्रयोग निश्चित नियमों के आधार पर होता था। पेस्टालॉजी ने इस प्रथा का स्थानान्तर वस्तुओं के जोड़, वर्गीकरण आदि से सम्बन्धित अति शीघ्र मानसिक गणित के रूप में कर दिया। 'प्रत्यक्ष पदार्थों के द्वारा शिक्षा' तथा 'मौखिक शिक्षा' ने सम्पूर्ण अंकगणित-शिक्षण के क्षेत्र में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इस प्रकार पेस्टालॉजी नए विषय "प्राथमिक अंकगणित" (Primary Arithmetic) का जन्मदाता बन गया। उसने यह चाहा कि बालक स्वयं अपने इन्द्रिय-अनुभव पर आधारित क्रियाशीलता द्वारा सामान्य गणितीय नियमों को खोज निकाले। "कोई भी अंक चाहे उसका जो भी नाम हो" पेस्टालॉजी लिखता है "वह और कुछ नहीं वरन् गिनने के सामान्य पद्धति का सीमित रूप है।" अतएव प्रत्यक्ष वस्तुओं का गिनना, वर्गीकरण करना तथा उन्हें क्रमबद्ध करना, अंकों का जोड़ना, घटाना आदि प्रारम्भिक कार्यों के लिये मूलभूत आवश्यक कार्य हैं। अंकों के स्पष्ट शिक्षण के लिये उसने तिनकों, गुट्टियों, छड़ियों तथा अन्य पदार्थों का उपयोग किया है। आज के शिशु एवं बाल-शिक्षा-केन्द्रों में जो हमें ये उपरोक्त वस्तुएँ अंकगणित-शिक्षण में देखने को मिलती हैं वह पेस्टालॉजी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति के ही परिणाम-स्वरूप हैं। जोड़ने, घटाने, विभाजन तथा अंश को समझने को सरल रूप देने के लिए पेस्टालॉजी ने "इकाइयों की सूची" (Table of Units) प्रतिपादित

किया। यह बालक के लिये उपरोक्त बातों को शीघ्रता से सीखने में सहायक है। प्रत्येक पग पर अध्ययन को ठीक प्रकार से समझने के लिए उसने कहा कि प्रत्येक कार्य पेन्सिल या कागज के बिना केवल मानसिक रूप में होना चाहिये। इस प्रकार के अभ्यास ने मानसिक अकगणित पर एक नये ढंग से प्रकाश डाला।

(३) *भूगोल*—

कदाचित् पेस्टालॉजी के एक उच्चकोटि के शिक्षा-शास्त्री होने का ज्वलन्त प्रमाण उसका भूगोल अध्यापन सम्बन्धी कार्य है। पेस्टालॉजी के समय से पूर्व भूगोल का तात्पर्य तार्किक, शब्द-कोषीय रूप में तथ्य-संग्रह ही था। सम्पूर्ण प्रकार के ज्योतिर्षीय, प्राकृतिक और राजनीतिक तथ्यों को प्रश्नोत्तर-रूप में स्मरण करने तक भूगोल का विस्तार था। विद्यार्थी इसके अन्तर्गत परिभाषा, सीमाओं राजधानियों, उत्पादन, आयात और निर्यात, जनसंख्या आदि का अध्ययन करते थे। अध्यापक विद्यार्थियों से इन्हीं स्मरण की गई वस्तुओं को सुनते थे। पेस्टालॉजी ने बड़े जोरदार शब्दों में इस प्रकार की भौगोलिक शिक्षण का विरोध किया तथा एक नई पद्धति को विकसित किया जिसका अनुसरण आज भी भूगोल के अच्छे अध्यापक करते हैं। यह पद्धति है स्थानीय क्षेत्रों का निरीक्षण करना तथा मानचित्र से परिचय भी कराना। ये दूसरों के द्वारा निर्मित न होकर स्वयम् अपने श्रम द्वारा बड़े पैमाने में निर्मित आकृतियाँ एवम् मानचित्र होना चाहिये। उनके एक शिष्य ने उनकी शिक्षा-पद्धति का सचित्र उल्लेख किया है "हमें एक संकीर्ण घाटी जो कि 'बरडन' से अधिक दूर नहीं थी में ले जाया गया'''सामान्य दृश्य देखने के पश्चात् हमें उसके विस्तार का परीक्षण उस समय तक करना पड़ा जब तक कि हम लोगों ने उसका ठीक ठीक और पूर्ण विचार ग्रहण नहीं कर लिया। तब हमें घाटी के तट के एक ओर पड़ी मिट्टी को लेने का आदेश दिया गया''''''

लौटने के पश्चात् एक लम्बे मेज़ पर बैठकर जिस घाटी का हमने अध्ययन किया था उसे पुनः निर्मित किया। जब हम लोगों का कार्य पूर्ण हो चुका तब हमें मानचित्र दिखाया गया। इसके द्वारा हमने विषय को ठीक प्रकार से समझ लिया। प्रॉजेक्ट-पद्धति पर आधारित स्थानीय-भूगोल अथवा गृह-भूगोल को पेस्टालॉजी ने प्रस्तावित किया। उसने कहा कि यह पद्धति मनुष्यों के जीवन, उनके देश तथा जीवन-यापन करने के साधनों से सम्बन्धित होगा। यह वास्तव में एक नितान्त नवीन विषय था तथा इसे मानवीय-भूगोल (Human Geography) के नाम से अभिहित किया गया।

(४) *प्रकृति-अध्ययन, चित्र खींचना तथा संगीत*—

प्रकृति अध्ययन में स्थूल निरीक्षणात्मक कार्य के महत्व पर प्रकाश डाला गया। पेड़ों फूलों पत्तियों आदि को दिखाया जाता था, उनका चित्र खींचा जाता था तथा उन पर विचार विमर्श किया जाता था। चित्र खींचने की शिक्षा तथा संगीत का अध्यापन यंत्रवत् तथा जीवनहीन ढंग से कराया जाता था। चित्र खींचने की शिक्षा को कार्य रूप में परिणित करने के पूर्व पेस्टालॉजी यह चाहता था कि बच्चे "ज्योमितीय रूपों की वर्णमाला" भी सीख लें। इस प्रकार चित्र खींचनें की शिक्षा में वर्षों तक रेखा, कोण, वृत्त, समकोण, चतुर्भुज, त्रिभुज आदि ज्योमितीय रूपों एवम् आकार का अध्ययन करना होता था। पेस्टालॉजी ने यह अनुभव करना आवश्यक नहीं समझा कि भाषा के समान बालकों के लिये चित्र खींचने की शिक्षा भी मुक्त अभिव्यक्ति का माध्यम होना चाहिये। संगीत में भी बालकों को ताल, लय, गति, सम आदि के आधार पर अभ्यास कराया जाता था। बालक जब तक कि गीत को ठीक प्रकार से गा नहीं लेते थे तब तक उनसे अभ्यास कराया जाता था। परिणाम-स्वरूप वे गीत पूर्ण रूप से सीखने तक अत्यधिक थक जाते थे।

पाठ्य-क्रम—पेस्टालॉजी का यह अपना विश्वास था कि सामान्य शिक्षा के आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं—भाषा (अभिव्यक्ति एवम्-

पढ़ना), गिनती (अंकगणित) तथा रूप या आकार (चित्र खींचने की शिक्षा तथा लिखना)। 'ऑन्श्वॉङ्' पर आधारित विषयों यथा सामान्य विज्ञान तथा भूगोल को पेस्टालॉजी ने मान्यता दी तथा उन विषयों को उसने कम महत्व दिया जिसका सीधा सम्बन्ध अनुभव से नहीं होता, यथा इतिहास। हस्तकला, तथा अन्य मानवीय कार्यों यथा बागवानी, पुस्तक-कला, मॉडेल निर्माण करने की कला आदि को अन्य विषयों के बराबर ही मान्यता दी। पेस्टालॉजी ने अपनी योजना में सर्वमान्य शारीरिक-शिक्षा को भी उचित स्थान दिया तथा घर के बाहर जाकर कार्य करने पर अधिक समय देने के लिए कहा। पेस्टालॉजी ने इसके अतिरिक्त अपने पाठ्यक्रम में नैतिक एवम् धार्मिक शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

नैतिक एवम् धार्मिक शिक्षा

नैतिक एवम् धार्मिक शिक्षा के रूप स्थिर करने में भी पेस्टालॉजी ने अपने द्वारा प्रतिपादित बौद्धिक शिक्षा के मार्ग का ही अनुसरण किया अर्थात् उसने इसका प्रारम्भ भी अनुभव प्राप्त करने में ही किया। पेस्टालॉजी स्पष्ट उदाहरणों द्वारा बालकों में 'विवेक' का विकास करना चाहता था। नैतिक एवम् धार्मिक शिक्षा की नींव माता द्वारा ही डाली जाती है। माता अपने बालकों में धार्मिक शिक्षा की नींव, प्यार की भावना, विश्वास, संतोष, आज्ञा-पालन आदि गुणों को उत्पन्न करती है। अध्यापक का यह महान कर्त्तव्य है कि वह अपने में उपरोक्त महान गुणों को सुरक्षित रखे तथा उन गुणों का विकास बालक में करे। पेस्टालॉजी ने धर्म को एक ऐसा संवेग माना है जिसको पढ़ाया नहीं जा सकता। अपने सिद्धान्तों के ही अनुरूप उसने कहा, "मैं न तो धर्म को पढ़ाता हूँ और न तो नैतिकता को"। उसका ऐसा विश्वास था कि संवेग का प्रकाशन अपने व्यक्तिगत स्थिति द्वारा करना चाहिये तथा उसका अनुभव करना चाहिये।

उदाहरणों एवम् अनुभवों के द्वारा बालकों के हृदय में कोमलतम अनुभवों का चित्रांकन होना चाहिये। पेस्टालोजी धार्मिक एवम् नैतिक शिक्षा की महत्ता प्रतिपादित करता हुआ स्वयं कहता है "हमें केवल रोटी की ही आवश्यकता नहीं है, प्रत्येक बालक अपना धार्मिक विकास भी चाहता है। वह जानना चाहता है कि विश्वास और प्रेम से ईश्वर की किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये"।

उसकी शिक्षा-पद्धति के दोष :—पेस्टालॉजी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा सम्बन्धी पाठ्यक्रमों, उद्देशों अथवा विचारों में कुछ महान् त्रुटियां भी हैं :-

(१) सर्वप्रथम उसने शिक्षा में प्रत्यक्ष अनुभव को अत्यधिक महत्व दे दिया है। शिक्षा की समस्या है प्रत्यक्ष अनुभव और पुस्तकीय ज्ञान में समुचित संतुलन स्थापित करना।

(२) दूसरी बात यह है यद्यपि उसका विचार कि निर्देश या शिक्षा का आरम्भ अनुभव-तत्वों से प्रारम्भ करना चाहिये ठीक था किन्तु कुछ स्थलों में उसे तत्वों के सम्बन्ध में गलत धारणा थी। किसी-किसी स्थिति में इसकी प्रतिक्रिया ने पाठ को यंत्रवत, निर्जीव एवम् प्रभावशून्य बना दिया है।

(३) तीसरी बात यह है कि उसके प्रयत्न अधिक मात्रा में अध्यापन के प्रारम्भिक रूप को स्थिर करने में ही सीमित रह गया। वह उच्चस्तरीय सीखने की अवस्था पर ठीक एवम् पूर्ण विचार करने में अपने को सफल न कर सका।

उसके सिद्धान्त का सार

पेस्टालॉजी के सिद्धान्तों का सार, जिसका उल्लेख उसके चरित्र-लेखक 'मार्फ' (Morf) तथा अन्य लेखकों [१] ने किया है, निम्न-लिखित हैं :—

१—Paul Monroe, H. G. Good, F. P. Graves and Frederick Eby.

(१) व्यक्तिगत एवम् सामाजिक अभ्युत्थान के लिये शिक्षा सर्वोच्च माध्यम है। इसके द्वारा मनुष्य का बौद्धिक एवम् नैतिक परिष्कार होना चाहिये।

(२) निम्नवर्गीय व्यक्तियों को शिक्षा देने में प्राथमिकता दी जानी चाहिये।

(३) शिक्षा का रूप सामाजिक एवम् सार्वभौमिक होना चाहिये।

(४) व्यक्ति का आंगिक विकास ही शिक्षा है।

(५) शिक्षा का उद्देश्य बालक की बौद्धिक, शारीरिक एवम् नैतिक शक्तियों का संतुलित एवम् नैसर्गिक विकास होना ही है।

(६) निर्देश शिक्षा के उद्देश्य का सहायक होना चाहिये।

(७) अध्यापन का उद्देश्य मस्तिष्क की शक्तियों के विकास एवम् उनको सुदृढ़ बनाने में होना चाहिये न कि ज्ञान और दक्षता की प्राप्ति अथवा सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण, कथन और व्याख्यान।

(८) पाठ्यक्रम का विस्तार व्यावहारिक एवम् वैज्ञानिक आधार पर होना चाहिये।

(९) बौद्धिक शिक्षा एवम् औद्योगिक प्रशिक्षण साथ-साथ होनी चाहिये।

(१०) सामान्य-शिक्षा धनोपार्जन सम्बन्धी शिक्षा से पूर्व देना चाहिये।

(११) स्वानुभूति-मूलक कार्यों के फलस्वरूप ही विकास सम्भव है।

(१२) उचित विकास के लिये इन्द्रिय-प्रशिक्षण एक आवश्यक स्थिति है।

(१३) 'निर्देश' मनोवैज्ञानिक होना चाहिये।

(१४) निर्देश सीखने वालों के स्वयं के निरीक्षण अथवा अनुभव अथवा अन्तःज्ञान पर आधारित होना चाहिये।

(१५) सीखने वालों के द्वारा प्राप्त अनुभव या निरीक्षण का सम्बन्ध भाषा से होना चाहिए।

(१६) शिक्षा का प्रारम्भ सरल से सरल तत्व को लेकर होना चाहिए। फिर धीरे-धीरे बालक के विकास के अनुसार क्रमशः उसको

आगे बढ़ाना चाहिये। सबका एक मनोवैज्ञानिक क्रम होना चाहिये।

(१७) एक बात पढ़ा देने के बाद कुछ समय तक रुक जाना चाहिये जिससे बालक भली-भाँति समझ ले। जब तक पाठ का ठीक से बोध न हो जाय तब तक आगे नहीं पढ़ाना चाहिये।

(१८) अच्छा घर एक आदर्श शिक्षण संस्था है किन्तु शिक्षा के व्यापक विस्तार के लिए शिक्षण संस्था आवश्यक है। उत्साह एवं अनुशासन के क्षेत्र में विद्यालय को घर के अनुरूप होना चाहिए।

(१९) विद्यालय में अनुशासन अध्यापक एवं विद्यार्थी के पारस्परिक सद्भावना एवम् सहयोग पर आधारित होना चाहिए। अनुशासन यद्यपि कोमल होना चाहिए किन्तु फिर भी उसका रूप कड़ा एवम् दृढ़ होना चाहिये।

(२०) अध्यापन एक श्रम सम्बन्धी पेशा है एवं नैतिक कार्य है तथा इसको प्रयोगों के द्वारा ही ठीक से सीखा जा सकता है।

पेस्टालॉजी का प्रभाव

पेस्टालॉजी का बाद के विचारकों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। जिन विद्वानों पर पेस्टालॉजी का सीधा प्रभाव पड़ा हैं वे हैं :—प्रमुख दार्शनिक फिक्टे, दो महान जर्मन शिक्षक—हरबार्ट और फ्रोबेल तथा सम्मानित भूगोल शास्त्री कार्ल रिटर।

उसके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का विस्तार बहुत व्यापक हुआ है। सम्पूर्ण यूरोप तथा संयुक्तराष्ट्र पर इसका प्रभाव पड़ा है। पेस्टालॉजी के शिक्षा सिद्धान्तों का सर्वाधिक शीघ्र प्रभाव जर्मनी पर पड़ा है, जहाँ पर विद्यालयों का पुनर्सङ्गठन किया गया है तथा उनमें पेस्टालॉजी के सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणित किया गया। इसके अतिरिक्त वहाँ पर अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के निमित्त सामान्य प्रशिक्षण विद्यालय खोले गये। उसके विचार इंगलैन्ड और संयुक्तराष्ट्र में भी पहुँचे

जहाँ पर नये सिद्धान्तों के आधार पर शैक्षिक पुर्नसंस्थापन किया गया। अन्य राष्ट्र जहाँ पर नये सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा है वे हैं:—रूस, पोलैंड, स्पेन तथा इटली। 'कम्पेयर' जिसने कि पेस्टालॉजी के कार्यों को प्रशंसात्मक रूप में वर्णित किया है, लिखता है "उत्तरी तथा दक्षिणी यूरोप का कोई भी जिला ऐसा नहीं बचा जहाँ पर इस क्रान्ति की आवाज न पहुँची हो।"

अनेक देशों में, पेस्टालॉजी के, समाज को पुर्नस्थापित करने की शिक्षा की शक्ति पर, अतुलित विश्वास का, बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। अनाथ के साथ उचित व्यवहार, सुधार के इच्छुक व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति तथा बौद्धिक एवं औद्योगिक शिक्षा का सुन्दर समन्वय आदि विषयों में पेस्टालॉजी की शिक्षा सम्बन्धी विचारों की विशेषताओं से देशों को प्रेरणा प्राप्त हुई है। इस पद्धति का अत्यन्त द्रुत प्रभाव सम्पूर्ण यूरोप पर पड़ा है। संयुक्तराष्ट्र में इस क्रांति का रूपान्तर 'श्रम' आन्दोलन (Manual Labour Movement) के रूप में पड़ा है।

१६ वीं शताब्दी में पेस्टालॉजी के विचारों ने प्रारम्भिक विद्यालयों के उद्देश्यों को निश्चित कर दिया। विद्यालयों का संकुचित दृष्टिकोण जिसका रूप अभी तक 'चर्च' ने ही स्थिर किया था हटाकर विद्यालय को समाज के पुर्नसंस्थापन तथा सब के हितों के विस्तार का साधन बना दिया। शब्दों के स्थान पर प्राकृतिक वस्तुओं का अध्ययन, तथा तोते के समान रटने की प्रवृति के स्थान पर अध्ययन किये गये विषयों पर सोचना तथा विचार-विमर्श आदि ने नवीन प्रारम्भिक विद्यालयों के शिक्षण पद्धति एवम् विषय-वस्तु में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। इस प्रकार धर्म के ही साध्य पर आधारित प्रारम्भिक शिक्षा के स्थान पर पेस्टालॉजी के कार्यों के द्वारा धर्म निरपेक्षिता पर आधारित एक नवीन प्रारम्भिक विद्यालय का सूत्रपात हुआ। यह नवीन विद्यालय प्रत्यक्ष वस्तु के अध्ययन, प्रत्यक्ष ज्ञान-अनुभव के द्वारा सीखना,

विचारों की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति, बालक की क्रियाशीलता तथा क्रमिक रूप में बालक की शक्तियों के विकास आदि पर आधारित था।

पेस्टालॉजी के कार्यों में आधुनिक शिक्षा संबन्धी विचारों के बीज विद्यमान दृष्टिगत होते हैं। बालक के मस्तिष्क के विकास का सतर्क एवम् धैर्यतापूर्ण अध्ययन करने के लिए पेस्टालॉजी ने शिक्षा शास्त्रियों को रूढ़िगत सिद्धान्तों अथवा परम्परा-जनित क्रियाओं के स्थान पर नए ढंग से विचार करने को प्रेरित किया। पेस्टालॉजी के विचारों द्वारा भाषा, अंकगणित, भूगोल, सामान्य-ज्ञान आदि के अध्यापन में परिष्कार हुआ। सामान्य रूप से सम्पूर्ण आधुनिक पाठ्य-पुस्तकों के क्रम का निर्धारण पेस्टालॉजी के इस प्रयत्न अर्थात् विषय का स्पष्टीकरण सरल-तम रूप के पश्चात् क्रम से जटिलतम रूप द्वारा होना चाहिये, के फल-स्वरूप ही हुआ है। शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में स्वयं पेस्टालॉजी ने अत्यन्त अतियुक्तिपूर्ण वर्णन यह कह कर दिया है कि "आधा-संसार" उसी समस्या पर विचार एवम् कार्य कर रहा है।

पेस्टालॉजी की महानता इस बात में अधिक है कि उसने यह प्रतिपादित किया है कि अध्यापक एवम् विद्यार्थी के मध्य एक नए प्रकार का सहानुभूति-मूलक वातावरण होना चाहिये तथा अध्ययन-कक्ष में नए प्रकार की स्फूर्ति उत्पन्न होनी चाहिये। आधुनिक विद्यालयीय अनुशासन पेस्टालॉजी के सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित हुआ है। पेस्टालॉजी के स्व-नियंत्रण सम्बन्धी विचारों का अनुसरण एवम् विस्तार किया गया है। आज जब कि शिक्षा की कुछ अवस्थाओं में पूर्ण स्वतन्त्रता अति लाभकारी सिद्ध होने लगी है, ऐसी अवस्था में सामान्य धारणा यह है कि पेस्टालॉजी द्वारा प्रतिपादित मत अर्थात् अध्यापक के लिए दृढ़ता एवम् जागरूकता आवश्यक है, का पालन करना आवश्यक माना जाने लगा है। अन्य अनेक स्थलों में भी इस प्रमुख शिक्षण-सुधारक के विचारों के बीज आधुनिक काल की शिक्षा में पाये जाते हैं। संक्षेप में

पेस्टालॉजी के शिक्षा सिद्धान्तों एवम् प्रयोग की पद्धतियों ने निम्नलिखित तत्वों को विकसित होने में सहायता पहुँचाई है :—

(१) सार्वभौमिक सामान्य विद्यालय का विचार।
(२) एक विस्तृत पाठ्यक्रम।
(३) विविध इन्द्रियों द्वारा सीखना।
(४) प्रत्यक्ष पदार्थों द्वारा शिक्षा।
(५) विचारों की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति।
(६) बालक के उचित विकास के लिये उचित निर्देश का उपयोग।
(७) औद्योगिक शिक्षा।
(८) नम्र सहानुभूतिमूलक अनुशासन।
(९) नवीन अध्यापकीय शिक्षा।





हरबार्ट (१७७६-१८४१)

"शिक्षा के एकमात्र एवम् सम्पूर्ण कार्य का सार नैतिकता में निहित है।"
—हरबार्ट

अध्याय—४

हरबार्ट

(१७७६-१८४१)

भूमिका

शिक्षा-दार्शनिकों में हरबार्ट का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वह शिक्षा-शास्त्री के साथ ही एक कुशल दार्शनिक भी था। एक ओर जब कि पेस्टालॉजी ने शिक्षा को एक मनोवैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न किया तो दूसरी ओर हरबार्ट ने उसे दार्शनिक जामा पहिनाने की चेष्टा की अर्थात् हरबार्ट ने शिक्षा-उद्देश्य का निर्धारण नैतिक-दर्शन के आधार पर किया। उसने पेस्टालॉजी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा की आधार-शिला पर अपने विचारों का महल बनाने की चेष्टा की। उसने शिक्षा का नवीन सामाजिक उद्देश्य निर्मित किया, सम्पूर्ण शिक्षा की क्रिया के लिए एक वास्तविक मनोविज्ञान की प्रतिष्ठा की, शिक्षण-पद्धतियों में एक नवीन मार्ग का अनुसरण किया तथा बालक की शिक्षा के लिये ठीक प्रकार से संगठित निर्देशों (Instructions) की महत्ता पर बल दिया। उसने शिक्षा के लिए एक निश्चित शब्द-भण्डार प्रदान किया तथा अध्यापन के क्षेत्र में निश्चित कार्य-क्रम प्रस्तुत किया। इसके फलस्वरूप उसने एक विचार-धारा की स्थापना की जिसने अनेक शिष्यों का ध्यान आकृष्ट किया तथा

शिक्षा के साहित्य में अपना महान योग दिया। हरबार्ट को आधुनिक मनोविज्ञान एवम् आधुनिक शिक्षा-विज्ञान का जन्मदाता कहा जा सकता है। उसके दार्शनिक एवम् शैक्षिक विचारों को भली भांति समझने के लिए हमें उसके जीवन के अनुभवों की ओर दृष्टिपात करना होगा।

उसकी जीवनी तथा शिक्षा सम्बन्धी रचनाएँ

हरबार्ट का जन्म जर्मनी के ओल्डेनबर्ग (Oldenburg) में सन् १७७६ ईसवी में हुआ था। वह एक सम्भ्रान्त परिवार में उत्पन्न हुआ था। उसका पिता वकील था तथा माता बड़ी विदुषी और असाधारण गुणों से सम्पन्न स्त्री थी। उसे ग्रीक भाषा और गणित का पूरा अभ्यास था, और बचपन में ही उसने अपने पुत्र हरबार्ट को इनमें दक्ष कर दिया था। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में उसने अपनी माता की संरक्षता में एक अध्यापक से शिक्षा प्राप्त की। इस सतर्क निर्देशन के कारण उसने गणित, भाषा, तथा संगीत में असाधारण उन्नति कर ली। बाल्यावस्था में ही उसमें असाधारण प्रतिभा एवम् दर्शन के प्रति रुचि थी। यह कहा जाता है कि उसने अपनी ग्यारह वर्ष की अवस्था में तर्कशास्त्र तथा बारह वर्ष की अवस्था में दर्शनशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ कर दिया था। बारह से अठारह वर्ष की अवस्था के मध्य उसने अपने नगर के 'जिमनाज़ियम' (प्राचीन विद्यालय) में अध्ययन किया जहाँ से उसने उच्चतम सम्मान के साथ 'स्नातक' की उपाधि प्राप्त की। उसके पश्चात् उसने कानून के अध्ययन के लिए जेना विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। यहाँ पर उसने फिक्टे नामक विद्वान से दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करने के लिये अपने मुख्य अध्ययन की उपेक्षा की। फिक्टे की प्रेरणा से हरबार्ट ने उस समय के विलक्षण अमूर्तवादी शेलिङ्ग की पुस्तकों की मार्मिक समालोचना की। उन सुन्दर विद्वतापूर्ण समालोचनाओं को पढ़कर सब विद्वान दाँतों तले उंगली दबाते थे और उसकी चमत्कारिणी बुद्धि की प्रशंसा मुक्त कंठ से करते थे। यहीं पर उसने

अपने विचारों को क्रमबद्ध करना आरम्भ कर दिया। अपनी पढ़ाई समाप्त करने के पूर्व ही इक्कीस वर्ष की अवस्था में उसने विश्वविद्यालय छोड़ दिया तथा स्विट्ज़रलैन्ड में एक गवर्नर के तीन पुत्रों का संरक्षक हो गया। तीनों पुत्रों की आयु क्रमशः आठ, दस और चौदह वर्ष की थी। अपनी विधिवत् शिक्षा के आधार पर ही उसने व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कर लिया, जिसकी आधार शिला पर उसने अपने शैक्षिक सिद्धान्तों की स्थापना की। इस अनुभव के द्वारा उसका विश्वास पूर्ण परिपक्व हो गया कि शिक्षा-मनोविज्ञान का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए बालकों के समूह का अध्ययन आवश्यक नहीं है, इसके लिए तो थोड़े बालकों के ही मानसिक विकास का अधिक समय तक एवम् समीप से अध्ययन करना आवश्यक है। इसी समय हरबार्ट ने बर्गडार्फ में स्थित पेस्टालॉजी के विद्यालय को देखा। वहाँ पर वह शिक्षा-सुधारक पेस्टालॉजी द्वारा प्रतिपादित विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुआ। इस अनुभव ने न केवल उसकी बढ़ती हुई शिक्षा संबंधी गति में रूचि दी वरन् इसने हरबार्ट को इस विज्ञान में अपना महान् योग प्रदान करने के लिये प्रेरित किया। अपने पद से त्याग-पत्र देने के पश्चात् वह दो वर्षों तक शिक्षा के विशेष प्रसंग के साथ दर्शन का अध्ययन करता रहा। सन् १८०२ ई० में उसने गॉटिन्जेन विश्वविद्यालय से 'डाक्टरेट' की उपाधि ग्रहण की तथा शिक्षा एवं दर्शन का प्राध्यापक पद स्वीकार किया। यहीं पर उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि सांइस आफ एजुकेशन' प्रकाशित की।

तैंतीस वर्ष की अवस्था में कोनिसबर्ग विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में विश्व का सर्वोच्च प्रतिष्ठित अध्यक्ष पद, जिसका अधिकारी कान्ट नामक दार्शनिक रह चुका था, ग्रहण करने के लिए उसे आमंत्रित किया गया। यहाँ पर वह २५ वर्ष तक दर्शन तथा शिक्षाशास्त्र का प्रोफेसर रहा। यहीं उसने अपने श्रेष्ठ कार्यों की रचना की और अपने ऐतिहासिक अध्यापन की पद्धतियों के प्रयोगों एवम् शिक्षकों

के व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए एक विद्यालय की स्थापना भी की। यहाँ के पढ़े हुये विद्यार्थी बड़े बड़े स्कूलों के 'प्रिन्सिपल' और 'निरीक्षक' के पद पर आसीन हुए। इस प्रकार से उन्होंने सम्पूर्ण जर्मनी में हरबार्ट के सिद्धान्तों के प्रचार एवम् प्रसार करने में अपना महान योग दिया। बर्लिन में जब सुप्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल की मृत्यु सन् १८३१ ई० में हुई तो हरबार्ट ने यह आशा प्रगट की कि वह उसके रिक्त पद पर स्वयं आसीन हो जाय किन्तु इस क्षेत्र में उसे निराशा हुई। सन् १८३३ ई० में वह पुनः 'गॉटिन्जेन विश्वविद्यालय' में दर्शन के प्रोफेसर के रूप में लौट आया और वहाँ मृत्यु पर्यन्त सन् १८४१ ई० तक कार्य करता रहा। सन् १८३५ ई० में उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'दि आउट लाइन्स आफ एजुकेशनल डाक्ट्रिन्स' (The Outlines of Educational Doctrines) प्रकाशित की। इस पुस्तक में उसके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का स्पष्ट एवम् क्रियात्मक रूप में उल्लेख है।

उसका दर्शन एवम् मनोविज्ञान

हरबार्ट ने पूर्ण आदर्शवादी दृष्टिकोण का विरोध किया। उसका दर्शन यथार्थवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। इसका मूलभूत विचार यह है कि विश्व सत्य है तथा यह एक मन की उपज नहीं है। हरबार्ट के अनुसार विश्व असंख्य अपरिवर्तनशील तत्वों से जिसे उसने 'सत्य' (Reals) कहा है निर्मित है। प्रत्येक 'सत्य' एक साधारण वस्तु है, वह अपरिवर्तनशील, पूर्ण एवम् अविभाज्य है तथा इस पर समय और स्थान का प्रभाव नहीं पड़ता। इसमें परिवर्तन, विकास या विनाश नहीं होता। यह स्थिर है। हमारी चेतना के कारण ही हमें विश्व परिवर्तनशील मालूम होता है। विभिन्न 'सत्यों' को विभिन्न क्रम से रखने के कारण ही इसमें परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिये यदि हम किसी चित्र को एकाग्र-चित्त होकर कुछ समय तक देखें तो वह हमारी आँखों के समक्ष परि-

यथार्थवाद

वर्तित होता हुआ ज्ञात होगा। वास्तविक रूप में हम यह जानते हैं कि चित्र कभी भी परिवर्तित नहीं होता किन्तु हमारी आँखें उस चित्र को भिन्न भिन्न रूप में देखती हैं। इसी कारण चित्र हमें परिवर्तित होता हुआ जान पड़ता है। इस प्रकार से विश्व भी अपरिवर्तनशील है, किन्तु हम विश्व के विभिन्न सत्यों को इस प्रकार सम्बन्धित करते हैं कि विश्व ही हमें परिवर्तनशील ज्ञात होता है।

आत्मा की प्रकृति

हरबार्ट के अनुसार आत्मा 'सत्य' है तथा शरीर सत्यों का समूह। उसके अनुसार आत्मा और कुछ नहीं वरन् गुण की दृष्टि से मन का ही दूसरा नाम है। हरबार्ट ने कहा कि आत्मा की साधारण प्रकृति अज्ञात है। हम जिसे आत्मा के नाम से अभिहित करते हैं वह वास्तविक आत्मा नहीं है वरन् "वह तो वास्तविक प्रकटीकरण अथवा मानसिक स्थितियों का योग है।" आत्मा वस्तु अथवा सत्य के सम्पर्क में आती है। संवेदनाओं के द्वारा विचारों का विकास होता है। ये विचार आत्मा में संगठित रहते हैं तथा उसके स्वरूप को निर्मित करते हैं। सत्य की दुनिया अपरिवर्तनशील है। इसलिये आत्मा भी शरीर के नष्ट हो जाने पर अस्तित्वयुक्त रहती है, वह नष्ट नहीं होती। यहाँ पर हरबार्ट भारतीय संस्कृति के निकट आता जान पड़ता है। प्लेटो ने भी यह स्वीकार किया की आत्मा अमर है।

ज्ञान का उत्पादन-श्रोत अनुभव

हरबार्ट ने मानसिक विभागों के सिद्धान्त[1] को अस्वीकार कर मन की एकरूपता पर बल दिया है। आत्मा जन्म के समय मूलतः पूर्ण रिक्त रहती है। उसमें कोई भी जन्मजात प्रवृत्तियाँ अथवा कोई विभाग नहीं रहता। अतएव प्रत्येक विचार या ज्ञान का उत्पादन समय और अनुभव के फलस्वरूप ही होता है। मानसिक जगत का रूप इस प्रकार होने के

१—इस सिद्धान्त के अनुसार मन को अनेक विभागों का एक समूह माना जाता है उदाहरणार्थ, स्मृति, तर्कशक्ति, कल्पनाशक्ति आदि।

कारण यह विचार त्याग देना चाहिये कि मन का विकास अन्तर से होता है। पेस्टालॉजी के इस विचार का हरबार्ट ने विरोध किया है। उसका कथन है कि मन का विकास सांसारिक मनुष्यों एवं वस्तुओं के सम्पर्क में आने पर होता है। वह एक बाह्य रचना है।

हरबार्ट के अनुसार आत्मा की एक शक्ति है "बाह्य वातावरण से सम्बन्ध स्थापित करना"। इस सम्बन्ध के द्वारा ही मन 'प्रकटीकरण' (Presentation) से ओत प्रोत हो जाता है। प्रकटीकरण विचारों की वस्तु है जो प्रकट की जाती है अर्थात् जो चेतना के स्तर पर लाई जाती है। नारंगी को हम प्रकट करते हैं और दृष्टि, स्पर्श, एवं सूँघने की संवेदना से हम उसका अनुभव कर लेते हैं। हरबार्ट ने विचारों की स्पष्टता एवं विचारों के विकास के लिये प्रत्यक्ष-ज्ञान-अनुभव की अत्यधिक आवश्यकता पर बल दिया। प्रकटीकरण की अन्तर-क्रिया के द्वारा ही विचारों का विकास होता है और सामान्यीकरण के द्वारा प्रत्यय-निर्माण होता है तथा इसी प्रकार की अन्तर-क्रिया-विधि से विवेक-शक्ति और निर्णय-शक्ति आती है। हरबार्ट ने मन के विधिवत् विकास में तीन स्तरों पर दृष्टिपात किया है। विकास के ये स्तर निम्नलिखित हैं:—प्रथम संवेदना एवम् प्रत्यक्षीकरण की अवस्था; दूसरी कल्पना एवं स्मृति के स्तर की अवस्था; तथा तीसरी और सर्वोच्च स्थिति है प्रत्ययात्मक चिन्तन तथा निर्णय।

मस्तिष्क का विकास: प्रकटीकरण प्रथम चरण

हरबार्ट ने मानसिक व्यवहार के तीन मूल पक्षों, 'ज्ञान' (Knowing), संवेदन (Feeling) और इच्छा (Willing) के अस्तित्व को स्वीकार किया है। इन तीनों में 'इच्छा' को सब से अधिक महत्वपूर्ण और उच्चतम कार्य माना है। मनुष्य का मूल्य ज्ञान में नहीं वरन् इच्छा में है। हरबार्ट इच्छा की एक अलग विच्छिन्न अवस्था को मानने के लिये तैयार नहीं है। उसने कहा कि "इच्छा की स्वतन्त्र स्थिति नामक कोई

इच्छा की जड़ ज्ञान में निहित है

वस्तु नहीं है। व्यक्ति की इच्छा विचारों का समूह ही है जो कि अनुभव का निर्माण करती है तथा अपने को क्रियान्वित करने के लिए व्यक्त करती है।

हरबार्ट का शिक्षा-सिद्धान्त

हरबार्ट ने शिक्षा को नीतिशास्त्र एवम् मनोविज्ञान पर आधारित कर दिया। नीतिशास्त्र से उसने शिक्षा के उद्देश्य को तथा मनोविज्ञान से उसकी पद्धति को ग्रहण किया। उसने शिक्षा के उद्देश्य को निम्नलिखित रूप में ज़ोरदार शब्दों में व्यक्त किया है :—"शिक्षा के एकमात्र एवम् संपूर्ण कार्य का सार 'नैतिकता' में निहित है"। 'गुण' शब्द सम्पूर्ण शिक्षा के उद्देश्य को व्यक्त कर देता है। वह कहता है "जिस साधन से हमारी ऊंची प्रवृत्तियां नीची प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करती है उसी का नाम शिक्षा है।...सदाचार की विचारधारा में शिक्षा सन्निहित है"। हरबार्ट के लिये इस नैतिकता का तात्पर्य धार्मिक अर्थ में आवश्यक नहीं है वरन् यह व्यक्ति को सामाजिक वातावरण के अनुरूप बनाने के अर्थ में है। व्यक्तिगत चरित्र और सामाजिक नैतिकता अथवा अच्छे मनुष्य का निर्माण दूसरे शब्दों में इस प्रकार शिक्षा का ध्येय हो जाता है। नैतिकता से हरबार्ट का तात्पर्य निम्नलिखित पाँच मूल विचारों से है : (१) आंतरिक स्वतन्त्रता, (२) पूर्णता, (३) सद्भावना (४) न्याय एवम् (५) समानता। नैतिकता या अच्छाई के निर्माण के लिये उपरोक्त पाँचों की सहायता आवश्यक है। इनमें से किसी का कोई अलग महत्व नहीं है। यही नैतिकता अथवा सर्वाङ्गीण अच्छाई ही शिक्षा का चरम लक्ष्य है।

शिक्षा का उद्देश्य 'नैतिकता'

हरबार्ट के पूर्व शिक्षा-शास्त्रियों का नैतिकता की शिक्षा से तात्पर्य धार्मिक शिक्षा से था, तथा आचरण के सामान्य नियमों एवम् नैतिक

सिद्धान्तों के स्मरण करने से था। शताब्दियों के अनुभव द्वारा इस पद्धति की अनुपयोगिता ज्ञात हो गई थी। हरबार्ट का विश्वास था कि नैतिक आचरण 'इच्छा' (अच्छाई करने की इच्छा) के विकास पर आधारित होना चाहिये तथा यह इच्छाशक्ति ज्ञान अथवा अनुभव-संचय पर आधारित हो। यह ज्ञान अथवा अनुभव संचय विचारपूर्ण नैतिक निर्णयों में अपने को मुक्त रूप में एवम् लगातार व्यक्त करने के लिए पूर्ण संगठित होना चाहिये। "जो हम जानते हैं उसी की ही इच्छा करते हैं। जिसे हम नहीं जानते उसकी इच्छा नहीं करते" हरबार्ट ने ऐसा कहा है। अतएव नैतिकता अथवा गुण सहज रूप में ठीक प्रकार के ज्ञान पर आधारित है। यह सत्य है कि बुराइयाँ एवम् पाप सामान्यतः अज्ञानता की उपज हैं। इस प्रकार शिक्षा मनुष्य को सुसंगठित विस्तृत ज्ञान एवम् अनुभव प्रदान करने के लिए होनी चाहिये। यह ज्ञान एवम् अनुभव मनुष्य को गुणमय एवम् विवेकपूर्ण क्रियाकलापों की ओर ले जाने के लिए उत्साहित करने के योग्य होनी चाहिये। पूर्ण ज्ञान के द्वारा स्पष्ट विचार अथवा धारणा का निर्माण होगा। यह स्पष्ट विचार उचित क्रियाओं की ओर तथा ठीक क्रिया व्यक्तिगत चरित्र की ओर अग्रसरित करेगी जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक नैतिकता का निर्माण होगा।

सद्भावना एवम् ज्ञान पर 'नैतिकता' आधारित

बालक को सर्वगुण-सम्पन्न करने के लिए यह अति आवश्यक है कि बालक में रुचि का जागरण हो। बिना रुचि के बालक ज्ञान और विचारों को ठीक एवम् प्रभावपूर्ण रूप से ग्रहण करने के योग्य नहीं होगा। शिक्षा के सिद्धान्त में हरबार्ट ने रुचि के सिद्धान्त को रख कर एक अति महत्वपूर्ण एवम् शाश्वत् योगदान दिया है। हरबार्ट के अनुसार रुचि खेल द्वारा उत्पन्न उत्तेजना से नितांत भिन्न है। रुचि तो मनुष्य के प्रत्येक गम्भीर कार्यों में प्रयुक्त गहन एवम् सजीव प्रक्रिया है। रुचि में प्रत्येक कार्य जिसका

रुचि का सिद्धान्त

प्रत्यक्षीकरण किया जाता है उसका मन के लिये विशेष आकर्षण होता है, अर्थात् यह ध्यान को अमुक वस्तु के प्रति आकर्षित होने के लिये वाध्य करती है। इस प्रकार रुचि मन में स्थित एक ऐसी क्रियाशील शक्ति है जो कि इस बात का निश्चय करती है कि किन अनुभवों और विचारों की ओर ध्यान दिया जाय। सहज रुचि की अनुपस्थिति में अध्यापक के लिये यह आवश्यक है कि वह बालक में ऐच्छिक-रुचि को जागृत करे। किन्तु यह बाध्य और अप्राकृतिक न हो जो बालक में वाह्य उत्तेजकों के प्रयोग यथा प्रतियोगिता और पुरस्कार द्वारा उत्पन्न की जावे, प्रत्युत यह साहचर्य की विधि से की जानी चाहिए।

बहुमुखी रुचि

हमने यह देखा है कि बिना रुचि के किसी भी प्रकार की शिक्षा नहीं दी जा सकती किन्तु इस स्थान पर बालक की किसी एक विषय या क्रिया में ही अत्यधिक रुचि उत्पन्न हो जाने पर शिक्षक का उद्देश्य असफल हो सकता है। एकांगी रुचि पर केन्द्रित मन एक एकांगी मन ही है और इसकी आवश्यकता भी नहीं है। इस प्रकार हरबार्ट के अनुसार बहुमुखी रुचि (Many-sided Interest) होनी चाहिए। उसका विश्वास था कि नैतिक व्यक्तित्त्व के चरम उद्देश्य को हम रुचियों के सर्वाङ्गीण विकास के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। सुसंतुलित, सुन्दर, बहुमुखी रुचि के द्वारा युवकों में सद्भावना एवम् अच्छे नैतिक गुणों का विकास किया जा सकता है। हरबार्ट इस बात को प्रकट करता है कि बहुमुखी रुचि अहमंन्यताओं एवं पापों के ऊपर विजय प्राप्त करने की एक पूर्ण शक्ति रखती है तथा इसी को ही आदर्श नैतिक चरित्र का एक सर्वोच्च गुण मानना चाहिए। इस प्रकार एक आदर्श व्यक्ति वही है जिसने बहुमुखी रुचि की सहायता से उच्चतम नैतिक चरित्र को प्राप्त कर लिया है। बहुमुखी रुचि की व्याख्या करते समय हरबार्ट ने कहा कि विचारों तथा रुचियों का मूल उद्गम दो शक्तियाँ हैं: (१) अनुभव, जिससे हमको प्रकृति के ज्ञान की प्राप्ति होती है, (२) सामा-

जिक व्यवहार, जिससे मनुष्य के प्रति सहानुभूति-सूचक भावों का उद्घाटन होता है। इस प्रकार रुचि का विभाजन हरबार्ट के द्वारा निम्नलिखित है :—

(१) *ज्ञान सम्बन्धी रुचि*—इसको उसने तीन वर्गों में विभाजित किया है।
- (अ) *अनुभवमूलक*—जिसका सम्बन्ध इन्द्रियों से है। यह भूगोल-शास्त्रियों एवम् वनस्पति-शास्त्रियों की विशेषताएँ हैं।
- (आ) *विचारमूलक*—जो कार्य, कारण और परिणाम में सम्बन्ध ढूँढ़ने की चेष्टा करता है। इसके अन्दर तर्कशास्त्र या गणित विषय आते हैं।
- (इ) *सौन्दर्यात्मक*—जो सौन्दर्य-चिन्तन के ऊपर अवलम्बित है। यह वह अनुराग है जो प्रकृति और कला के सौन्दर्य से उत्पन्न होता है। इसके अन्तर्गत कविता, चित्रकला, और मूर्ति-निर्माण-कला आते हैं।

(२) *सहकारी रुचि*—इसका भी विभाजन तीन वर्गों में किया गया है।
- (अ) *सहानुभूतिमूलक*—व्यक्ति-व्यक्ति के सुख-दुख में रुचि रखना।
- (आ) *सामाजिक*—यह रुचि सामाजिक सेवाभाव और देशभक्ति की भित्ति है।
- (इ) *धार्मिक*—मनुष्य के मध्य धार्मिक चर्चा होने के समय इस रुचि का प्रादुर्भाव होता है।

इन सभी उपरोक्त रुचियों को बालकों में उत्साह पूर्वक जागृत करना चाहिए। इन रुचियों के जागरण से सामान्य जागृति होगी तथा चरित्र का निर्माण होगा।

इन उपरोक्त शिक्षा के चरम उद्देश्यों का निश्चयपूर्वक उल्लेख करने के पश्चात् हरबार्ट ने इनकी प्राप्ति के लिए आगे अपना कदम बढ़ाया। हरबार्ट के अनुसार शिक्षा के तीन अंग हैं :—(१) बाह्य नियंत्रण अथवा शासन, (२) उपदेश या निर्देश और (३) प्रशिक्षण अथवा अनुशासन। उसने

शिक्षा के तीन अंग

इस बात पर जोर दिया कि शिक्षा का मुख्य माध्यम उपदेश या निर्देश है।

शासन बालक के वर्तमान कार्यों का नियंत्रण करता है जब कि उपदेश और प्रशिक्षण बालक के भविष्य से सम्बन्धित है। जब तक

वाह्य नियन्त्रण या शासन

बालक का विकास पूर्ण परिपक्वता तक नहीं पहुँच जाता है तथा जब तक उसके नैतिक चरित्र का भी दृढ़ विकास नहीं हो जाता तब तक बालक के लिये वाह्य नियंत्रण या शासन की आवश्यकता होती है। नियंत्रण बालक के लिए एक उपयुक्त प्रबन्ध, वातावरण तथा बालक के निर्देश एवम् प्रशिक्षण के लिये उपयुक्त अवसर प्रदान करता है। यह बालक को आज्ञाकारी एवं कार्य-रत बनाये रखने का प्रयत्न करता है।

शासन बालक के वाह्य नियंत्रण को संचालित करता है और प्रशिक्षण आत्म-नियंत्रण और आत्म-संयम को विकसित करता है।

प्रशिक्षण

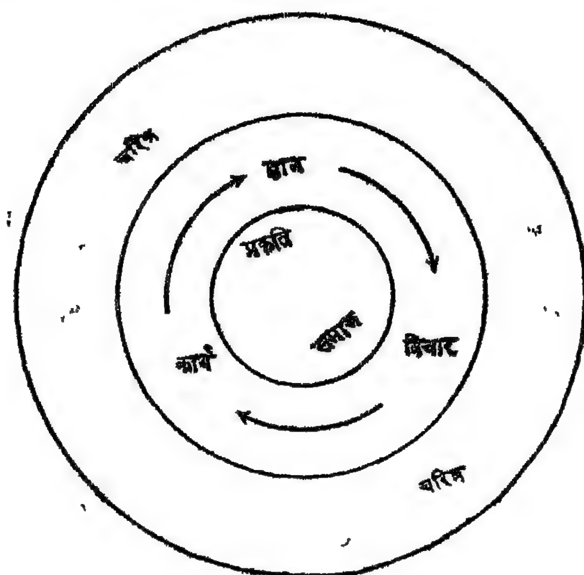
अतएव शासन प्रशिक्षण का प्रथम चरण अथवा प्राथमिक रूप है। प्रशिक्षण का सबसे बड़ा कार्य है 'निर्देश' को चरित्र-विकास के लिये अधिक प्रभावोत्पादक बना देना। इस प्रकार आदेश और प्रशिक्षण सामूहिक रूप से बालक की शिक्षा और भविष्य से सम्बन्धित हैं। अस्तु इनको साधन और साध्य के रूप में रक्खा जा सकता है। हरबार्ट के अनुसार केवल प्रशिक्षण ही चरित्र का निर्माण नहीं कर सकता। चरित्र का विकास आन्तरिक है। अतः चरित्र-सज्जा के निमित्त आन्तरिक क्रियाओं का जानना आवश्यक है। निर्देश के द्वारा चरित्र के आन्तरिक रूप की स्थापना का सिद्धान्त हरबार्ट की प्रमुख देन है। यह निर्देश के द्वारा ही सम्भावित है, अतः हरबार्ट के शिक्षा-सिद्धान्त में इसके लिये प्रथम महत्व की अपेक्षा है।

हरबार्ट द्वारा प्रतिपादित 'निर्देश' के अर्थ को भली भाँति जान लेना अति आवश्यक है। कोरी सूचना या ज्ञान ही निर्देश नहीं है।

निर्देश से हरबार्ट का तात्पर्य है "शैक्षिक निर्देश" जिसका चरम लक्ष्य है चरित्र-निर्माण करना। इस सम्बन्ध में हरबार्ट कहता है, "मेरे लिए बिना निर्देश के शिक्षा का कोई रूप ही नहीं है।

निर्देश

इसके विपरीत मैं उस प्रकार के निर्देश को स्वीकार नहीं करता जो शिक्षित नहीं करता। निर्देश द्वारा अवश्य ही चरित्र का निर्माण होगा। प्रथम के बिना अन्तिम अस्तित्वहीन है। यही मेरे शिक्षा-सिद्धान्त का मूलतत्व है।" यही शैक्षिक निर्देश जो कि इच्छा को निर्मित करता है तथा चरित्र के रूप का निर्माण करता है शिक्षक का महत्वपूर्ण कार्य है।



निर्देश का कार्य है कि अत्यन्त कुशलतापूर्वक ध्यान में लाए जाने ाले विचारों को हस्तगत कर ले, विचारों को परस्पर समीप लाने

एवम् संगठित करने की चेष्टा करे तथा नवीन विचारों से मन का निर्माण करे। इस प्रकार हरबार्ट के "विचार-चक्र" (Circle of thought) का निर्माण हो जाता है। पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान (Apperception) की प्रक्रिया ही इस 'विचार-चक्र' के निर्माण में सहायक होती है। इस प्रकार ज्ञान, विचार तथा कार्य का एक चक्र है जिनके सम्मिलित प्रभाव से चरित्र बनता है। चरित्र का आरम्भ ज्ञान में होना है और अन्त क्रिया में होता है। इस चक्र की रूप रेखा पृष्ठ ८६ पर दिया गया है।

विचार चक्र

आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में हरबार्ट का पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान के सिद्धान्त का प्रतिपादन उसकी एक महान देन है जिसकी ओर हमारा ध्यान स्वाभाविकतया आकर्षित होता है। इस सिद्धान्त में निहित उसके शिक्षा सम्बन्धी विचार इतने मूल्यवान हैं कि उनका ज्ञान प्रत्येक अध्यापक को होना चाहिये। हरबार्ट का कथन है कि कोरे तथ्यों का स्मरण कर लेना, जो शताब्दियों से विद्यालय के निर्देश की एक विशेषता सी हो गयी थी, शिक्षा सम्बन्धी और नैतिक साध्यों के लिये उपयुक्त नहीं है। उसने पेस्टालॉजी के सिद्धान्त "हमें ज्ञात से अज्ञात की ओर जाना चाहिए" का अनुसरण किया और इसका विस्तार इस सिद्धान्त के रूप में किया कि नवीन ज्ञान का सूत्रपात जिज्ञासु के पूर्व ज्ञान के द्वारा होता है। इसी नए का पुराने के द्वारा समन्वित करने की धारणा को ही हरबार्ट ने पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान के नाम से पुकारा है। उदाहरण के लिए एक बालक जो वायुयान के विषय में नहीं जानता है उसे वायुयान का ज्ञान एक पक्षी के उदाहरण के द्वारा कराया जा सकता है।

पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान का सिद्धान्त

पूर्व-संचित प्रत्ययों के कोष को हरबार्ट ने 'पूर्वानुवर्ती ज्ञान' का नाम दिया है। यह हमें नवीन विचारों को ग्रहण करने एवं उसके संचयन में सहायता प्रदान करता है। पूर्ण रूपेण ग्रहण करने के उपरांत

वह पूर्वानुवर्ती ज्ञान का एक अंग बन जाता है। इसके पश्चात् इसका उपयोग भावी अनुभवों को ग्रहण करने में किया जाता है। जितना अधिक शक्तिशाली और विस्तृत यह पूर्वानुवर्ती ज्ञान होगा उतनी ही विश्वासनीय और गतियुक्त सीखने की प्रक्रिया भी होगी। सीखने की प्रक्रिया में पूर्वानुवर्ती ज्ञान के द्वारा नवीन विचारों की पूर्ण ग्रहण की प्रक्रिया को डा० पाल मनरो ने भोजन की पाचन क्रिया के रूप में अभिहित किया है। वह कहते हैं, "जिस प्रकार भोजन शरीर में घुल-मिल जाता है उसी प्रकार हरबार्ट का पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान है। जब नवीन भोजन घुल मिल जाता है तब यह प्राणी के जीवन का एक अंग बन जाता है जिसकी सहायता से जीवन-हेतु नये भोजन का पाचन किया जाता है"। पूर्व अनुभवों एवम् ज्ञान के साथ नवीन विचारों का सम्बन्ध स्थापित करना हरबार्ट के अनुसार महान् कला है। अध्यापक की योग्यता के द्वारा विद्यार्थी के पूर्वानुभव और नये विचारों में साहचर्य स्थापित होता है और निर्देश की दक्षता अध्यापक की इस योग्यता द्वारा निर्धारित होनी चाहिये। विद्यालयों के सभी पाठ इसी दृष्टिकोण से पढ़ाये जाने चाहिये।

पूर्वानुवर्ती ज्ञान (Apperceptive Mass)

हरबार्ट ने सांस्कृतिक युग-सिद्धान्त को बाल्य जीवन की प्रकृति को समझने के लिये एक मनोवैज्ञानिक पथ-प्रदर्शक के रूप में स्वीकार किया और उसी के ऊपर पाठ्यक्रम तथा शिक्षा-विधि आधारित किया। सांस्कृतिक युग मनुष्य के सांस्कृतिक विकास के आदिम काल से प्रारम्भ होकर खानाबदोश युग, प्रारम्भिक कृषिकाल तथा आधुनिक सभ्यता के सभी अवस्थाओं तक की निरन्तर प्रगति का इतिहास है। इस सिद्धान्त की पुनः यह धारणा है कि प्रत्येक बालक जो विश्व में आता है, आदि की अवस्था से जीवन प्रारम्भ करता है और धीरे-धीरे क्रमिक अवस्थाओं से गुजरने के पश्चात् जो कि मनुष्य जाति के समानान्तर

सांस्कृतिक युग-सिद्धान्त

ही चलता है परिपक्वता एवम् सभ्यता को प्राप्त करता है। बालक के विकास का उचित क्रम अनुसरण करने के लिये अध्ययन-सामग्रियों का चुनाव और उनकी व्यवस्था जाति के सांस्कृतिक विकास के अनुसार होनी चाहिए।

पेस्टालॉजी ने जिस प्रकार प्रारम्भिक विद्यालयों को स्थापित करने में अपनी विशेष रुचि दिखलाई तथा फ्रोबेल ने पूर्व-स्कूलीय शिक्षा पर बल दिया उसी प्रकार हरबार्ट ने भी मुख्यतः माध्यमिक शिक्षा (Secondary Education) की स्थापना की आवश्यकता पर अत्यधिक जोर दिया। हरबार्ट को उस अवस्था के प्रशिक्षण में रुचि थी जिसमें मनुष्य के तार्किक जीवन का प्रारम्भ होता है तथा गत्यात्मक ज्ञान के सामान्य रूप का (क्रियात्मक रूप से) निर्माण होता है। उसके अधिकांश मतानुयायियों ने प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में उसके सिद्धान्तों एवम् पद्धतियों को प्रयुक्त किया है।

माध्यमिक शिक्षा पर बल

उसकी शिक्षा का पाठ्यक्रम

हरबार्ट ने पाठ्य-क्रम पर विचार विमर्श करते समय रुचि के वर्गीकरण का ध्यान रखा है। उसने विद्यालय के विषयों को दो प्रमुख वर्गों में रखा है: (१) वैज्ञानिक जिसमें गणित, भूगोल और प्राकृतिक विज्ञान सम्मिलित हैं; (२) ऐतिहासिक जिसके अन्तर्गत इतिहास, साहित्य और भाषाएँ आती हैं।

विषयों के दो वर्ग वैज्ञानिक और ऐतिहासिक

पेस्टालॉजी तथा उसके मतानुयायियों ने विषयों के प्रथम वर्ग अर्थात् प्रकृति-अध्ययन, भूगोल, अंकगणित आदि के निर्देशों को विकसित एवम् प्रकाशित किया था। दूसरे वर्ग में से पेस्टालॉजी का सम्बन्ध मौखिक भाषा-शिक्षण तक सीमित रहा। हरबार्ट एवम् उसके मता-

नुयायियों ने इतिहास एवम् साहित्य को पाठ्यक्रम में प्रथम एवं महत्वपूर्ण स्थान दिया है। हरबार्ट स्वयं माध्यमिक विद्यालयों में भाषा, साहित्य और इतिहास के अध्ययन में अपने सिद्धान्त को प्रथमतः प्रयोग करने के पक्ष में था। उसने दोनों वर्गों के विषयों की महत्ता को स्वीकार किया क्योंकि उसके विचार से बालक की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए यह आवश्यक है। उसने कहा कि वह शिक्षा जो कि वैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक शिक्षा की अवहेलना करती है, एकाङ्गी शिक्षा है। उसने वैज्ञानिक अध्ययनों के मूल्य पर हीन दृष्टि नहीं रखी वरन् इतिहास पर विशेष बल दिया क्योंकि उसका यह विश्वास था कि इतिहास और साहित्य नैतिक विचारों और भावनाओं के अभ्युत्थान के लिए अति महत्वपूर्ण हैं।

वैज्ञानिक की अपेक्षा ऐतिहासिक अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण

ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अध्ययन के साथ ही साथ तत्सम्बन्धी व्यावहारिक क्रियाकलाप भी परिचालित होता है। हरबार्ट ने जिस पाठ्यक्रम को निर्धारित किया है उसमें हस्त-विषयक-प्रशिक्षण (Manual Training) भी शामिल है। उसने इस बात पर बल दिया कि इस हस्त-विषयक प्रशिक्षण का प्रयोग किसी व्यापार की तैयारी के लिए ही न करना चाहिये वरन् इसका प्रयोग प्रकृति के सत्यों (विज्ञान) को समझने एवम् मानवीय उद्देश्यों के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करने के रूप में होना चाहिये।

हस्त-विषयक प्रशिक्षण

इस प्रकार माध्यमिक पाठ्यक्रम के लिये हरबार्ट ने जिन विषयों का उल्लेख किया है वे हैं भाषाएँ, साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित, प्राकृतिक विज्ञान तथा हस्त-विषयक-प्रशिक्षण।

उसकी अध्यापन-विधि

हरबार्ट ने पेस्टालॉजी से निरीक्षण एवम् प्रत्यक्ष-अनुभूति के महत्व को सीखा था इसलिये उसने विचारों को ठीक प्रकार से समझने तथा

अपनाने के लिये इन पर विशेष बल दिया। उसने यह घोषित किया कि प्रकटीकरण इतना स्पष्ट होना चाहिए कि विद्यार्थी इस बात की कल्पना कर लें कि उन्हें सहज इन्द्रिय-प्रत्यक्षीकरण हो रहा है। यदि विद्यार्थियों के पास काफी मात्रा में पृष्ठिभूमि एवम् अनुभव नहीं है तो उन्हें रेखाचित्रों, आकृतियों, मानचित्रों एवम् वर्णनों का प्रयोग करना चाहिए।

प्रकटीकरण स्पष्ट होना चाहिए

प्रकटीकरण की प्रक्रिया में हरबार्ट ने विश्लेषण एवं संश्लेषण दोनों के महत्व का पूर्ण उल्लेख किया है। फिर भी उसने संश्लेषण अथवा पूर्णता की प्रक्रिया के महत्व पर अधिक प्रकाश डाला है। विश्लेषण अनुभवों एवम् घटनाओं को पृथक लेकर उन्हें तत्वों अथवा आवश्यक अंगों में विभाजित कर तथा इस प्रकार उन्हें अधिक स्पष्ट कर, आगे की ओर बढ़ना है। संश्लेषण स्वयं तत्वों से नवीन एवम् दूरागम संयोग को निर्मित करता है। जब एक ही गुण अनेक वस्तुओं में पाया जाता है, उदाहरण के लिये लाल रंग, गुलाब, सेब और आकाश में भी दृष्टिगोचर होता है तो वह गुण (लाल रंग) वस्तुओं से अलग कर लिया जाता है और तब उसको एक विचार अथवा सूक्ष्म-भाव के रूप में ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार जब एक प्रकार की वस्तुएँ मस्तिष्क में संगठित हो जाती हैं तो वे नियमीकरण (Generalisation) अथवा प्रत्यय का निर्माण कर लेती हैं।

विश्लेषण, संश्लेषण और नियमीकरण

हरबार्ट ने निःसन्देह अपने दो प्रमुख शिक्षा-सिद्धान्तों को जिसने कि शिक्षा-विज्ञान पर विशेष प्रभाव डाला है, प्रस्तुत कर हम सबको ऋणी कर दिया है। वे दो सिद्धान्त हैं :—केन्द्रीकरण (Concentration) और समन्वय (Correlation)। हरबार्ट ने इस बात पर बल दिया है कि विषय-वस्तु का व्यापक सम्बन्धित भाग ही बालक के मन की

केन्द्रीकरण का सिद्धान्त

गहन रुचि को जीवित एवम् जागृत रख सकता है। इसी को केन्द्री-करण का सिद्धान्त कहते हैं। यह केन्द्रीकरण तभी सम्भव है जब कि ध्यान को एक ही प्रकार के विचारों की ओर पूर्ण रूपेण केन्द्रित किया जाय तथा जब कि मन अन्य सभी रुचियों से हटकर किसी एक रुचि पर केन्द्रीभूत हो। तात्पर्य यह है कि शिक्षा के विभिन्न विषयों का एक ही केन्द्र होना चाहिए। इसके द्वारा व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना किसी एक वस्तु अथवा विचार के ऊपर ही केन्द्रित हो जाती है।

हरबार्ट ने इस सिद्धान्त को समन्वय के सिद्धान्त से सम्बन्धित कर दिया है जिसके अनुसार व्यक्ति का सम्पूर्ण ध्यान, किसी एक

समन्वय

विषय पर केन्द्रित हो जाता है। ध्यान एक ही विषय पर केन्द्रित होता है फिर भी उसको अन्य सभी सम्बन्धित विषयों से पर्याप्त सहायता मिलती है। हरबार्ट ने कहा कि यद्यपि अध्ययन के विभिन्न विषय परस्पर अलग अलग होते हैं, किन्तु फिर भी पाठ्यक्रम में उनका संगठन इस प्रकार होना चाहिये कि वे एक ही में समन्वित प्रतीत हों। विचारों एवम् तथ्यों की एकता उस समय अत्यन्त सरल हो जाती है जब कि विभिन्न पाठों में विद्या-र्थियों को पढ़ाए गए सम्पूर्ण पदार्थों एवम् विषयों की डोर एक ही हो। उदाहरण के लिये बालकों को भाषा के पाठ में भारतीय राष्ट्रीय ध्वजा के बारे में बताते समय हम इस समन्वय के सिद्धान्त का प्रयोग कर सकते हैं। इस राष्ट्रीय ध्वजा के पाठ को केन्द्रीय विषय बना कर हम अन्य विषयों को भी इसके साथ सम्बन्धित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए नागरिक शास्त्र का प्रयोग हम नागरिक जीवन में राष्ट्रीय ध्वजा के महत्व को प्रतिपादित करते समय कर सकते हैं; इतिहास का प्रयोग अशोक-चक्र के बारे में बतलाते समय कर सकते हैं; अंक-गणित का प्रयोग ध्वजा के मूल्य को बतलाते समय कर सकते हैं तथा कला का प्रयोग ध्वजा का चित्र खींचकर कर सकते हैं। इस प्रकार एक प्रधान विषय से हम समस्त अन्य विषयों को समन्वित कर देते

हैं। यही समन्वय का सिद्धान्त है। समन्वय एवम् केन्द्रीकरण के विचार को हम सूक्ष्म रीति से अलग नहीं कर सकते हैं क्योंकि केन्द्रीकरण अधिक विधिवत एवम् सम्बद्ध समन्वय है।

अध्ययन की वस्तुओं को एकीकृत एवम् विधिवत् करने के लिये हरबार्ट ने यह अनुभव किया कि बालक के शिक्षण के लिये एक

निर्देश की पंच-पद-प्रणाली

निश्चित शिक्षा-पद्धति का निर्माण होना अति आवश्यक है। उसने एक पद्धति, जिसके चार तार्किक सोपान थे, निर्माण किया। किन्तु कुछ समय बाद हरबार्ट के मतानुयायियों ने इन सोपानों में सुधार करके पाँच सोपान निर्धारित किया जो 'पंच-पद-प्रणाली' (Five Formal Steps) के नाम से प्रसिद्ध है। हरबार्ट एवम् उनके मतानुयायियों द्वारा प्रतिपादित वे पद निम्नलिखित हैं :—

हरबार्ट द्वारा प्रतिपादित	*उसके मतानुयायियों द्वारा प्रतिपादित*
१—स्पष्टता (Clearness)	१—प्रस्तावना (Preparation) २—विषय-प्रवेश (Presentation)
२—संगति या सम्बन्ध (Association)	३—तुलना तथा सूक्ष्म-भाव (Comparison and Abstraction)
३—व्यवस्था (System)	४—नियमीकरण (Generalisation)
४—व्यावहारिक प्रयोग (Method)	५—प्रयोग (Application)

स्पष्टता—स्पष्टता सीखने के तत्त्वों अथवा तथ्यों का प्रकटीकरण है। हरबार्ट ने इसे स्पष्टता इसलिए कहा है क्योंकि उसने विचार को मूर्त्त रूप में प्रस्तुत करने पर बल दिया जिससे विचार स्पष्ट हो जायें।

हरबार्ट के प्रसिद्ध शिष्य 'जिलर' ने स्पष्टता के अवयव को दो भागों में विभाजित कर दिया अर्थात् (१) प्रस्तावना (२) विषय-प्रवेश। शेष तीन अवयवों के नामों को भी अत्यन्त स्पष्टता से समझने के लिए हरबार्ट के बाद वाले शिष्यों द्वारा परिवर्तित कर दिया गया है।

विगत अनुभवों से संबंधित विचारों को चेतना में विकसित करने की प्रक्रिया ही *प्रस्तावना* है। इसके द्वारा बालक के मस्तिष्क को नया पाठ ग्रहण करने के लिए तैयार किया जाता है। इससे नये विषय-वस्तु में एक व्यापक रुचि उत्पन्न होती है और पाठ शीघ्र ही समझ में आ जाता है। इस तैयारी का आधार बालक का पूर्व-ज्ञान होता है। पूर्व-ज्ञान पर आधारित दो चार प्रश्न पूछकर उसे नये पाठ से सम्बद्ध किया जाता है। *विषय-प्रवेश* मूल पाठ को मूर्त रूप में प्रस्तुत करने में निहित है। सुविधा के लिये पाठ को कुछ भागों में विभाजित कर लिया जाता है फिर एक एक भाग लेकर प्रश्न-उत्तर प्रणाली तथा वर्णन के द्वारा उचित रूप से समझाया जाता है। इस प्रकार विद्यार्थी स्पष्ट एवम् पूर्ण ज्ञान को ग्रहण कर लेता है।

संगति या सम्बन्ध—यह प्रक्रिया पूर्व ग्रहण किए गये तथ्यों से नए तथ्यों को सम्बन्धित करने में निहित है। विश्लेषण एवम् तुलना के द्वारा पूर्व विचारों के साथ नवीन ज्ञान की समानता और विभिन्नता स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार नया अनुभव पुराने अनुभव में घुलमिल जाता है। हरबार्ट के मतानुयायियों द्वारा इस सोपान का नामकरण तुलना और सूक्ष्म-भाव किया गया है।

व्यवस्था—इस सोपान में प्राप्त विचारों को एक तार्किक क्रम में रखना पड़ता है। हरबार्ट के अनुयायियों ने इस सोपान को नियमीकरण का नाम देना अधिक उचित समझा। नियमीकरण विश्लेषण किये गए ज्ञान में से परिणाम, सामान्य नियम एवम् सिद्धान्त के निर्माण की प्रक्रिया है। इस प्रकार बालक का सामान्य प्रत्यय विक-

सित होता है। उच्चस्तरीय मानसिक विकास के लिए इस सोपान का होना अति आवश्यक है।

व्यावहारिक प्रयोग—हरबार्ट के अनुयायियों ने इस सोपान का नाम 'प्रयोग' रक्खा है। यह प्रक्रिया नए नियमों या सिद्धान्तों के व्यावहारिक प्रयोग में निहित है। उदाहरण के लिये एक बार अंक-गणित के नियमों की स्थापना कर देने पर बालक नवीन उदाहरणों को लेकर उन नियमों का प्रयोग अथवा अभ्यास करता है। इस प्रक्रिया से बालक नवीन अनुभवों को ग्रहण कर लेता है तथा साथ ही यह उसके मानसिक गठन का एक अंग हो जाता है।

हरबार्ट ने इन पदों को सदैव पालन करने के लिये स्थायी नियम नहीं माना है। इसी कारण उसने यह प्रस्तावित भी नहीं किया कि इनका प्रयोग सभी पाठों में किया जाय। किन्तु हरबार्ट के मतानुयायियों ने उसके इस सिद्धान्त को एक यांत्रिक विधि के रूप में साधन न मानकर साध्य माना है।

आलोचना

(१) हरबार्ट का शिक्षा-सिद्धान्त अधिकतर बुद्धि एवम् विचारों पर आधारित है।

(२) उसने ज्ञान एवम् संस्कृति को 'गुण' मानकर गलत धारणा को जन्म दिया है। उसने गुण को अध्यापन का साध्य माना है किन्तु उसके विचार से यह इच्छा की नहीं अपितु बुद्धि की उपज है।

(३) यह प्रश्न विचारणीय है कि उसके द्वारा प्रतिपादित बहुमुखी रुचि नैतिक गुणों के विकास का लक्षण है अथवा नहीं ?

(४) उसने मौलिक प्रकृति की प्रवृत्तियों को अल्प महत्व दिया। उसने एक ऐसे मनोविज्ञान का निर्माण किया है जिसमें मन की

आन्तरिक विशेषताओं की चर्चा ही नहीं की गई है। इसके विपरीत उसने यह प्रतिपादित किया कि मन बाह्य-जगत से प्राप्त अनुभवों द्वारा निर्मित है।

(५) हरबार्ट की शिक्षा-सिद्धान्त में शारीरिक-शिक्षा के महत्व पर प्रकाश नहीं डाला गया है।

हरबार्ट का प्रभाव

हरबार्ट की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् उसके विचारों का प्रचार अति व्यापक रूप में होने लगा। विशेष रूपेण उसके शिक्षा विषयक विचारों का प्रभाव जर्मनी पर पड़ा। जर्मनी में उसके विचारों का प्रचार और प्रसार उसके शिष्यों जिलर, रेन और स्टॉय ने किया। इन लोगों ने विद्यालयों में हरबार्ट के शिक्षा-सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप में प्रदर्शित किया। जिलर ने 'लीपजिग' में शिक्षा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये एक संस्था की स्थापना की तथा एक प्रशिक्षण महाविद्यालय भी खुलवाया। यहीं पर उसने हरबार्ट के विचारों को विकसित किया। उसने सांस्कृतिक-युग-सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की तथा हरबार्ट की शिक्षा-पद्धतियों का विस्तार प्राथमिक विद्यालयों में किया। उसने प्राथमिक पाठ्यक्रम की विषयानुक्रमणिका का आधार इतिहास और साहित्य से कहानी की सामग्री लेकर निर्मित किया। डा० स्टॉय और डा० रेन ने जेना को अध्यापकों के प्रशिक्षण का एक महान केन्द्र बनाया तथा हरबार्ट के विचारों का प्रचार किया। अनेक नार्मल स्कूल हरबार्ट के सिद्धान्तों के आधार पर ही परिचालित होने लगे। हरबार्ट के सिद्धान्तों के विशेषज्ञ जो अध्यापक अन्य देशों में जाते थे वे विद्यालयों के क्रिया-कलाप को विशेष रूप से प्रभावित करते थे।

जर्मनी के पश्चात् जिस देश में हरबार्ट के सिद्धान्तों को सम्मानित किया गया, वह था अमेरिका। बड़ी संख्या में अमरीकी शिक्षक [1] जिन्होंने जेना विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण की थी संयुक्त राष्ट्र में आकर उनके सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार व्यावहारिक रूप में करने लगे। १६ वीं शताब्दी के अंतिम दश वर्षों में हरबार्ट के विस्तृत एवम् सर्वाङ्गपूर्ण पद्धतियों के प्रति रुचि सम्पूर्ण अमेरिका के अध्यापकों एवम् विद्यार्थियों में ज्वार-भाटा के समान फैल गई। अमरीकी व्यक्तियों पर व्यापक प्रभाव के फलस्वरूप हरबार्ट द्वारा प्रतिपादित इतिहास और साहित्य विषय ने प्राथमिक पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। इतिहास जिसका अध्ययन अभी तक उच्चतर श्रेणी तक सीमित था और जिसका मुख्य उद्देश्य अमरीकी इतिहास के अध्ययन के द्वारा राष्ट्रभक्ति का विकास करना था, अब सम्पूर्ण श्रेणियों में पढ़ाया जाने लगा और उसका उद्देश्य भी परिवर्तित होकर नैतिकता, संस्कृति एवम् सामाजिक जीवन का विकास करना हो गया। निम्नतर कक्षाओं में जीवनी एवम् इतिहास सम्बन्धी कहानियों का पठन-पाठन अधिक मात्रा में होने लगा। इतिहास और साहित्य में सम्पूर्ण विषयों के केन्द्रीकरण की योजना सब स्थानों में प्रचलित होने लगी। साहित्य जिसका मौलिक प्रयोग अभिव्यक्ति के नमूने के रूप में होता था और जो कि कुछ निश्चित महाकाव्यों द्वारा पढ़ाया जाता था अब नैतिक एवम् सौन्दर्य के गुणों के लिये, बाल साहित्य की सम्पूर्ण परिधि से परियों की कहानियों, नैतिक कथाओं आदि के माध्यम से सामग्री ग्रहण कर, पढ़ाया जाने लगा। बालकों की मानसिक स्थितियों के अनुकूल ऐतिहासिक और साहित्यिक सामग्री के अधिक मात्रा में प्रयोग के लिये पाठ्य-पुस्तकों ने भी अपना व्यापक प्रभाव प्रदर्शित किया।

१—चार्ल्स डी गार्मो, सी० सी० वैनलिउ, चार्ल्स मैकमरी; फ्रैन्क मैकमरी आदि।

हरबार्ट एवम् उसके मतानुयायियों के प्रति हम उनके निम्नलिखित प्रमुख कार्यों के लिये आभारी हैं :—

(१) नीतिशास्त्र एवम् मनोविज्ञान पर प्रत्यक्ष रूप से आधारित शिक्षा-विज्ञान की प्रतिस्थापना करना। नीतिशास्त्र से उसने शिक्षा के साध्य को एवम् मनोविज्ञान से पद्धतियों को ग्रहण किया।

(२) शिक्षा के नैतिक उद्देश्य पर अधिक महत्व प्रदान किया।

(३) नैतिक एवम् सामाजिक अभ्युत्थान के लिए उसने इतिहास, भाषाओं एवम् साहित्य के अध्यापन पर बल दिया। प्राथमिक विद्यालयों की सभी श्रेणियों में किसी न किसी रूप में इन विषयों को स्वीकृत करने के लिये प्रयत्न किया और इनकी शिक्षा के लिए सुधारयुक्त पद्धतियों को भी उसने प्रस्तुत किया।

(४) कक्षा की पढ़ाई को एक अच्छी कला का संगठन करना। इस प्रकार उसने कक्षा के कार्यों में एक क्रम एवम् निश्चित योजना निर्धारित की।

(५) प्राथमिक विद्यालय के पाठ्यक्रमों में साहित्यिक एवम् ऐतिहासिक अध्ययन पर आधारित विभिन्न प्रकार के केन्द्रीकरण एवम् समन्वय को प्रस्तुत करने के लिये उसने प्रेरणापूर्ण सफल प्रयत्न किये।

(६) शिक्षा-शास्त्र के साहित्य में कुछ नवीन शब्दों को प्रतिपादित किया, उदाहरण के लिए पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान, विचार-चक्र, केन्द्रीकरण, समन्वय, सांस्कृतिक-युग-सिद्धान्त, निर्देश के नियमित पद आदि।

(७) अध्यापक के प्रशिक्षण का विस्तार किया तथा उनके लिये व्यावहारिक विद्यालय के महत्व को प्रदर्शित किया। इसके अतिरिक्त उसने एक ऐसे आन्दोलन का उद्घाटन किया जिसने कि अध्यापन की पद्धतियों के सुधार में अपना महान योगदान दिया है।

१६ वीं शताब्दी के अंत एवम् बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में हरबार्ट के विचारों की वैधता के प्रश्न पर विरोध-स्वरूप बहुत कुछ लिखा गया। हरबार्ट की शिक्षा पद्धति के विस्तार के लिये एक विस्तृत साहित्य की रचना हुई है। आज उसका सिद्धान्त यद्यपि पुराना हो चुका है फिर भी शिक्षक-प्रशिक्षण विद्यालयों में वह प्रयुक्त होता है तथा यह उन व्यक्तियों में प्राण एवम् स्फूर्ति की प्रतिष्ठा करता है जो कि नई पद्धतियों पर प्रयोग कर रहे हैं। माध्यमिक एवम् उच्चतर श्रेणी में हरबार्ट के सिद्धान्तों की समता करने वाला अभी तक शिक्षा के क्षेत्र में कोई भी सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं हुआ है।



"विद्यालय का प्रमुख कर्तव्य भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक तथ्यों से ज्ञार्थियों को अवगत कराना मात्र नहीं है वरन् उससे बढ़ कर सभी वस्तुओं सन्निहित शाश्वत एकता को महत्त्व देना है"।

—फ्रोबेल

अध्याय—५

फ्रोबेल

(१७८२-१८५२)

भूमिका

आज विश्व में फ्रोबेल का नाम १६ वीं शताब्दी का एक अति विचारशील एवम् सुविख्यात शिक्षा-सुधारक के रूप में लिया जाता है। फ्रोबेल के शिक्षा सम्बन्धी योगदान की प्रशंसा करते हुए क्वीक ने लिखा है कि "ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक विचारों की समस्त उच्चकोटीय प्रवृत्तियाँ फ्रोबेल की कृतियों में केन्द्रित हो गयी हैं"। फ्रोबेल के शिक्षा सम्बन्धी विचारों के लिये परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में हम उसके ऋणी हैं। उसने इन तीन निम्नलिखित विचारों को शिशु-शिक्षा के सम्बन्ध में प्रतिपादित किया है। वे विचार हैं : किण्डर-गार्टेन, खेल तथा हस्तकार्य। वह किण्डरगार्टेन का जन्मदाता है। यह किण्डरगार्टेन बालकों की एक ऐसी संस्था है जिसमें विधिवत् एवम् क्रमबद्ध रूप से खेल एवम् क्रियाओं के आधार पर बालकों को शिक्षा दी जाती है। फ्रोबेल के तीक्ष्ण आलोचक किलपैट्रिक के निम्नलिखित शब्द "फ्रोबेल की प्रमुख विजय है बच्चों के लिये पुस्तक-विहीन



फ्रोबेल (१७८२–१८५२)

विद्यालय की स्थापना" के अतिरिक्त अन्य कोई भी महान् श्रद्धाञ्जलि लेखनी-बद्ध नहीं की जा सकती।

फ्रोबेल का जीवन तथा शिक्षा सम्बन्धी कार्य

फ्रोबेल का प्रारम्भिक जीवन उसके विचारों के विकास में अति महत्वपूर्ण है। फ्रोबेल ने जो बाद में विचार व्यक्त किया है उसका अनुभव उसने बाल्यावस्था में ही प्राप्त कर लिया था। दूसरे शब्दों में उसने अपनी प्रारम्भिक अवस्था में जो कुछ अनुभव किया था उसी को उसने अपने शिक्षा में प्रयोग किया।

फ्रोबेल का जन्म सन् १७८२ में दक्षिणी जर्मनी के थुरिन्जियन वनों के एक गाँव में हुआ था। उसकी माता की मृत्यु जब वह नौ माह की अवस्था का ही था, तभी हो गयी थी। "यह क्षति" उसने लिखा है "मेरे ऊपर एक भीषण प्रहार था जिसने मेरे जीवन के सम्पूर्ण वातावरण एवम् विकास पर प्रभाव डाला; मेरा यह विचार है कि मेरी माता की मृत्यु ने मेरे सम्पूर्ण जीवन की बाह्य परिस्थितियों को कम या अधिक मात्रा में निश्चित कर दिया।" फ्रोबेल का जीवन इतना कारुणिक उसकी माता की मृत्यु के ही कारण नहीं हुआ वरन् वह तो वास्तव में उसकी विमाता की द्वेष भावना का परिणाम था। उसका पिता लूथर-सम्प्रदाय का एक पादरी था, किन्तु वह अपने काम में ही इतना व्यस्त रहता था कि वह फ्रोबेल की शिक्षा पर तनिक ध्यान नहीं देता था। माता-पिता तथा साथियों के स्वाभाविक स्नेह प्राप्त न होने से बालक फ्रोबेल शीघ्र ही अति भावुक एवम् चिन्ताशील हो गया। अपने पौरुष पर निर्भर फ्रोबेल का भावुक हृदय प्रकृति के मनोरम स्थलों यथा पहाड़ियों, फूलों, वृक्षों और बादलों में विचरण करने लगा। उसने प्रकृति को सहचरी बनाया।

पिता के निर्देशानुसार फ्रोबेल गाँव के बालिका विद्यालय में प्रविष्ट कर दिया गया। पुनः दस वर्ष की अवस्था में वह अपने मामा के पास

भेजा गया जहाँ उसने जिला-स्कूल में प्रवेश प्राप्त कर लिया। उसके मामा द्वारा दी गयी धार्मिक शिक्षा ने उसके हृदय में आध्यात्मिक जिज्ञासा को जागृत कर दिया। बालक फ्रोबेल स्वप्नद्रष्टा, कवि-हृदय तथा अति भावुक हो गया। वह प्रकृति प्रेमी एवम् प्रकृति के रहस्यों का जिज्ञासु बन गया।

पन्द्रह वर्ष की अवस्था में उसे वन-रक्षक के यहाँ काम सीखने के लिए भेज दिया गया। किन्तु वहाँ उसने कुछ भी न सीखा। यहाँ पर उसे एक लाभ यह हुआ कि उसने प्रकृति के साथ घनिष्ठता स्थापित कर ली। दो वर्षों के पश्चात् उसे जेना विश्वविद्यालय, जहाँ पर उसका भाई अध्ययन कर रहा था, देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जेना विश्वविद्यालय का वातावरण आदर्शवादी दर्शन तथा प्रगतिवादी विज्ञान से परिपूर्ण था। इस वातावरण का फ्रोबेल पर गहरा प्रभाव पड़ा, वह वहाँ की बौद्धिक क्रियाशीलता से आकर्षित हुआ और उसकी अभिरुचि गूढ़ बातों में और भी बढ़ गयी। वहाँ उसने कुछ मास रह कर जीव-विज्ञान तथा गणित पढ़ने के लिए निश्चय किया। उसने जेना में अध्ययन करना आरम्भ कर दिया। किन्तु ऋण लेने के कारण उसे विश्वविद्यालय के जेल में लगभग ६ सप्ताह तक रहना पड़ा जिससे उसकी पढ़ाई समाप्त हो गयी।

विश्वविद्यालय छोड़ने के पश्चात् उसने स्थायी निर्वाह-हेतु कोई व्यवसाय प्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किया। उसे कई नौकरियाँ मिलीं जिनमें वनरक्षक, एकाउन्टेन्ट, मानचित्र मापक आदि के कार्य प्रमुख थे। किन्तु उसे प्रत्येक कार्य में एक प्रकार की असन्तुष्टि मिली। तेईस वर्ष की अवस्था में उसे फ्रेन्कफॉर्ट में स्थित पेस्टलॉजीय विद्यालय में अध्यापक बनने की इच्छा हुई। इस प्रकार उसने अपने जीवन का निश्चित मार्ग खोज लिया। फ्रोबेल ने लिखा है कि "मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं कुछ ऐसी वस्तु पा गया जिसे मैंने अभी तक नहीं जाना था, किन्तु इस अमूल्य वस्तु का मैं सदैव पिपासु था। मानों मेरे

जीवन ने अन्त में अपने मौलिक तत्व को खोज निकाला हो। मुझे इतनी अधिक प्रसन्नता का अनुभव हुआ कि जितनी तुष्टि एवम् प्रसन्नता मछली को जल में अथवा पत्ती को आकाश में होती है।" १८०७ से १८१० तक उसने तीन बालकों को, अधिकांश समय वरडन के विद्यालय में अपने विद्यार्थियों के बीच बिताते हुए, पढ़ाया। उसने पेस्टालॉजी के साथ दो वर्षों तक कार्य किया। अपने विद्यार्थियों के साथ फ्रोबेल भी पेस्टालॉजी की कक्षाओं में उपस्थित रहता था। इस प्रकार उसने पेस्टालॉजी की शिक्षण-विधि एवम् सिद्धान्तों को सुव्यस्थित ढंग से विस्तार पूर्वक सीख लिया। अपने अनुभव के फलस्वरूप वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यद्यपि पेस्टालॉजी शिक्षा सम्बन्धी विचारों में अन्य शिक्षा विचारकों से आगे बढ़ गया है किन्तु उसके विचार अब भी एक पूर्ण शिक्षा-विज्ञान को निर्मित करने में बहुत ही दूर हैं।

शिक्षक के रूप में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए फ्रोबेल ने पहले गॉटिन्जेन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया तत्पश्चात बर्लिन में जहाँ उसने खनिज-विज्ञान (मिनेरालॉजी) को विशेष अध्ययन के लिए चुना। यहाँ पर उसने फिक्टे, जो कि उस समय का सुविख्यात दार्शनिक था, के व्याख्यानों को सुना। १८१३ में फ्रोबेल ने जर्मन सेना में स्वयम्-सेवक के रूप में कार्य किया।

प्राथमिक प्रयोगों के उपरान्त १८१७ में फ्रोबेल ने थुरिन्जिया वनों में पेस्टालॉजी के सुविख्यात वरडन विद्यालय के समान ही कीलहाऊ नामक स्थान पर बालकों के लिये एक विद्यालय की स्थापना की जिसका नाम 'यूनिवर्सल जर्मन एजुकेशनल इन्स्टीट्यूट' रखा। इस विद्यालय के प्रमुख सिद्धान्त थे : आत्माभिव्यक्ति, स्वतंत्र विकास तथा सामाजिक कार्यों में भाग लेना। विद्यालय के कार्यों को लोक-प्रिय बनाने के लिये फ्रोबेल ने विद्यालय में व्यवहृत सिद्धान्तों को अपने प्रसिद्ध पुस्तक 'एजूकेशन ऑफ मैन' (१८२६) में प्रतिपादित किया। इस पुस्तक में

फ्रोबेल के शिक्षा-सम्बन्धी दार्शनिक विचारों का अत्यन्त सुव्यवस्थित ढंग से संकलन है।

धीरे-धीरे फ्रोबेल का इस बात पर विश्वास हो गया कि बालकों के प्रारम्भिक वर्षों से सम्बन्धित शिक्षा में सुधार लाना अति आवश्यक है। सन् १८४० में उसने ३ से ७ वर्षों के बालकों की शिक्षा के लिए 'किण्डरगार्टन' अथवा 'बालकों का उद्यान' नामक प्रथम विद्यालय की स्थापना की। यह विद्यालय थूरिन्जियन वन के अत्यन्त मनोरम स्थल किलहाऊ से दो मील दूर ब्लैंकेनबर्ग नामक स्थान पर स्थित था। इस विद्यालय की मुख्य विशेषता थी खेल, गीत तथा कार्य या व्यापार जिनमें बालकों की आत्म-क्रियाशीलता प्रकट होती है। इस विद्यालय की स्थापना के समय से ही फ्रोबेल का जीवन अपने शिक्षा सिद्धान्त तथा शिक्षा विधियों के विस्तार करने में, जिस पर कि यह विद्यालय आधारित था, व्यतीत होने लगा। किण्डरगार्टन स्कूल की स्थापना के बाद ही उसने अपने शिक्षा सम्बन्धी साहित्य को निर्मित किया। उनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं: 'पेडागाजिक्स आफ दी किंडरगार्टन', 'एजूकेशन बाई डेवलपमेन्ट' तथा 'मदर प्ले एण्ड नरसरी सांग्स'।[१]

फ्रोबेल के दार्शनिक विचार

फ्रोबेल के समय में जर्मनी दार्शनिक विचारों में विश्व का सिरमौर था। फ्रोबेल स्वभावतः विद्यार्थी एवम् वैज्ञानिक दोनों था।। अतः

उसके दर्शन की आधारशिला

एव उसका निजी शिक्षा-सिद्धान्त पेस्टालोजी द्वारा प्राप्त निरीक्षण-पद्धति एवम् अन्य दार्शनिकों तथा शिक्षा-शास्त्रियों के विचारों के अध्ययन के समन्वय से निर्मित हुआ। उसका दर्शन गहन धार्मिक आधारशिला

१—Pedagogics of the kindergarten, Education by Development and Mother Play and Nursery Songs.

पर निर्मित है। उसके दर्शन पर शेलिङ्ग एवम् फिक्टे के आदर्शवाद एवम् रूसो के प्रकृतिवाद का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा।

विश्व की प्रकृति

फ्रोबेल के अनुसार यह विश्व, हीगेल के मत के विरुद्ध शुद्ध विचार नहीं है, और न तो यह भौतिक वस्तु ही है जैसा कि भौतिक-वादियों की धारणा है, वरन यह तो आध्यात्मिक रचना है जो कि भौतिक जगत की शक्ति तथा मानसिक जगत के इच्छा तथा विचारों में प्रकट होता है।

एकता का सिद्धान्त

फ्रोबेल के दर्शन में सर्वप्रमुख विचार जिस पर कि उसके सम्पूर्ण शिक्षा सम्बन्धी कार्य निर्भर हैं, एकता का सिद्धान्त है अर्थात् ईश्वर में सभी वस्तुएं एकत्व को प्राप्त होती हैं। उसने सार्वभौमिक सत्ता अथवा ईश्वर को एक क्रिया-शील, शक्त्योत्पादक, बुद्धिपूर्ण तथा स्वचेतन आत्मा को उत्पन्न करने वाला माना है। इसी सार्वभौमिक सत्ता अथवा ईश्वर से ही मनुष्य एवम् प्रकृति का उद्भव होता है। पुरुष एवं प्रकृति यद्यपि अपना भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेते हैं किन्तु वे इसी शक्ति के द्वारा ही परस्पर सम्बद्ध रहते हैं और उसी के प्रकट रूप हैं। प्रत्येक उत्पन्न वस्तु यथा पत्थर, वृक्ष, जानवर, मनुष्य आदि सभी ईश्वर के अंश हैं। 'एडूकेशन आफ मैन' की प्रारम्भिक पंक्तियों में उसके दार्शनिक विचारों का सारांश व्यक्त है। फ्रोबेल के शब्दों में "प्रत्येक वस्तु में एक अनन्त नियम विद्यमान रहता है। यह नियम अवश्य ही एक सर्वव्यापी, शक्तियुक्त, जीवित, स्वचेतन एवं अनन्त एकता पर आधारित है। यह एकता ही ईश्वर है। विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं का उद्भव इसी दैवी एकता अर्थात् ईश्वर से हुआ है और सब का मूलश्रोत यही दैवी एकता अर्थात् एक मात्र ईश्वर ही है।" इसलिये फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा का वास्तविक अर्थ है एक स्थायी एवम् चेतन विकास तथा उस दैवी आदर्श की ओर संयम एवम् दृढ़ता के साथ अग्रसर होना।

अपने एकता के सिद्धान्त के द्वारा फ्रोबेल ने यह विश्वास प्रकट किया कि "प्रत्येक दृष्टि बिन्दु से, प्रकृति के प्रत्येक वस्तु से तथा जीवन के प्रत्येक रूप से ईश्वर की ओर जाने का मार्ग है। विशेष रूप से प्रकृति का रूप मानव को स्वर्ग तक पहुँचाने के लिये उत्तम साधन है।" इस प्रकार प्रकृति की प्रत्येक वस्तु बालक को ईश्वर की शक्ति प्रकाशित कर सकती है। इस कारण से फ्रोबेल ने बालक की शिक्षा में प्रकृति की वस्तुओं के प्रयोग एवं प्रकृति-निरीक्षण एवं अध्ययन पर विशेष बल दिया है।

प्रकृति बालक में ईश्वर का आभास कराती है

फ्रोबेल की एकता का सिद्धान्त 'पूर्णता' के कार्यों पर आधारित है। उसका 'पूर्ण' वृहद् रूप में यह जगत है जिसमें ईश्वर सार्वभौमिक सत्ता है। किन्तु यह अपने में पूर्ण एवं अनेक स्वतंत्र छोटे पूर्ण टुकड़ों या इकाइयों से निर्मित है। ये छोटे पूर्ण स्वतंत्र रूप से भी तथा बड़े 'पूर्ण' के भाग होकर कार्य करते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे शरीर के विभिन्न अंग काम करते हैं। उदाहरण के लिये अंगुली को यदि देखा जाय तो वह अपने में पूर्ण दिखाई देती है किन्तु वह वस्तुतः हाथ का ही एक अंश है। इसी प्रकार हाथ स्वयम् एक 'पूर्ण' है किन्तु फिर भी वह शरीर का एक अंग है। शरीर से अलग होकर हाथ अपने वास्तविक महत्व को खो देता है और माँस तथा हड्डी के रूप में ही रह जाता है। इसी प्रकार का नियम मानव-जाति के साथ भी लागू होता है। मनुष्य को यदि अकेले विचार किया जाय तो वह अपने में पूर्ण है किन्तु जब वह मानव-समूह या वर्ग में सम्मिलित होता है तो वह अपने में पूर्ण इकाई भी रहता है तथा उस सम्पूर्ण समूह का एक अंग भी। किसी भी पूर्ण का समुचित विकास, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, प्रत्येक छोटे किन्तु आवश्यक अंग के पूर्ण, संतुलित, उचित क्रिया पर निर्भर है। अर्थात जब तक छोटे अंगों का समुचित विकास न होगा तब तक किसी भी पूर्ण का समुचित विकास नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर के एक

पूर्णता का सिद्धान्त

छोटे परन्तु आवश्यक भाग के रूप में सुचारु ढंग से संतुलित एकता के द्वारा अपना कार्य करते हुए ईश्वर के उद्देश्य प्राप्त करने में योगदान करता है। जितना ही अधिक संतुलन एवं मेल होगा उतना ही अधिक मनुष्य का योगदान सामाजिक समूहों के विकास एवं पूर्णता में होगा। यह स्वभावतः मानवता के उत्तरोत्तर विकास में सहायक होगा। फ्रोबेल की व्यक्तिगत पूर्णता एवं मानव समूहों का सामाजिक संयोग के सम्बन्ध में इसी प्रकार की धारणा है।

विकास का सिद्धान्त

फ्रोबेल के दार्शनिक विचारों की दूसरी महत्वपूर्ण बात है विकास की धारणा अथवा सार्वभौमिक नियम अथवा रचनात्मक शक्ति के द्वारा विकास। जैविक सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए फ्रोबेल ने देखा की प्रत्येक इकाई चाहे वह चट्टान, खनिज वनस्पति अथवा पशु हो चाहे वह भौतिक या मानसिक रूप में हो वह अपनी अन्तर्निहित विशेषताओं के अनुरूप विकास करने के लिए तत्पर रहता है। इस विकास के सिद्धान्त के लिये मनुष्य अन्य वस्तुओं यथा स्फटिक, पौदा अथवा पशु के समान ही एक विषय है। मुख्य अन्तर यह है कि विकास करने में मनुष्य निष्क्रिय होकर दैवी सिद्धान्त द्वारा निर्धारित नियम का पालन नहीं करता। निम्न-स्तर के जीवों में जो भी अचेतन परिवर्तन अथवा अन्ध प्रयोजन होता है वह मनुष्य में एक चेतन विकास के रूप में ही हो जाता है जिसमें कुछ नियंत्रण एवं निर्देशन की शक्ति विद्यमान रहती है। यह बात जानने योग्य है कि फ्रोबेल ने इस विकास के सिद्धान्त को आध्यात्मिक जगत के लिए भी प्रयुक्त किया है तथा साथ ही मानव के मानसिक कार्यों के लिये भी। उसने यह विचार प्रकट किया है कि मानव की सभी क्रिया एवं व्यवहार 'सामान्य से जटिल की ओर' के नियमानुसार होते हैं। आधुनिक मनुष्य की तर्क शक्ति आदिकाल के मनुष्य की साधारण विचार-शक्ति का विकसित रूप है। यह शक्ति आगे चल कर और अधिक विकसित हो सकती है। इसी प्रकार मानव समूहों की

राजनीतिक चेतना सरल नायकत्व भावना से ही विकसित हुई और उत्तरोत्तर जटिल यद्यपि अपूर्ण जनतंत्र की भावना का रूप धारण कर रही है। मानव जीवन के सभी पहलू यथा शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक आदि इसी विकास के सिद्धान्त के द्वारा परिचालित होते हैं जो अनन्त विकासशील प्रक्रिया है। मनुष्य की इस असीम उन्नति में फ्रोबेल का दृढ़ विश्वास था। उसका कहना है कि "मनुष्य को पूर्ण रूप से विकसित हुआ न मानना चाहिये अथवा उसे स्थिर अथवा अचल भी नहीं समझना चाहिये किन्तु उसे तो धीरे-धीरे एवं विकास की ओर आगे बढ़ते हुए मानना चाहिये। उसे एक ऐसी स्थिति में समझना चाहिये जहाँ सदा विकास होता रहता है। वह सदैव संस्कृति के एक सोपान से चढ़कर दूसरे सोपान पर उस लक्ष्य की ओर पहुँचता है जो असीम और अनन्त की ओर ले जाता है।"

फ्रोबेल का विचार है कि शिक्षा इसी विकास की प्रक्रिया का एक तत्व है। उसके विचार से शिक्षा एक वंश से दूसरे वंश को रूढ़िगत अनुभवों को सौंपना नहीं है और न तो कुछ शक्तियों का विकास कर लेना ही शिक्षा का अर्थ है। अपने को वातावरण के अनुकूल बना लेना भी शिक्षा नहीं है। वरन् शिक्षा तो अपने उच्चतम स्तर पर विकास की प्रक्रिया को जानना या अनुभव करना है। विकास के पर्याप्त चिह्न प्रत्येक मनुष्य में पाए जाते हैं।

शिक्षा विकास-प्रक्रिया का एक भाग है

मनुष्य अपने पूर्व पीढ़ी के जीवनगत विकास की स्थितियों को पुनः दुहराता है अर्थात् विकास की जो जो स्थितियाँ मनुष्य की विगत पीढ़ी में घटित हो चुकी हैं उन्ही की पुनरावृत्ति उसके जीवन में भी होती है। हरबार्ट के विचारों के अन्तर्गत जो "सांस्कृतिक युग का सिद्धान्त" है, वह फ्रोबेल के इसी विकास की धारणा के अनुरूप है। किन्तु मानव द्वारा अपनी विगत पीढ़ी के विकास-स्थितियों

वंश विकास की पुनरावृत्ति मनुष्य करता है

के अनुकरण करने के पूर्व फ्रोबेल यह चेतावनी दे देता है कि यह कार्य मानव को एक अंधानुकरण अथवा नकल मात्र के रूप में न करना चाहिये वरन् इसको तो उसे जीवित सहज कार्यकलापों द्वारा सम्पादित करना चाहिये। इस प्रकार बालक गुफा में खेलना इसलिये नहीं पसन्द करता कि उसे दूसरों का अनुकरण करना है वरन् इसलिये कि ऐसे कार्य उसकी प्रकृति की आन्तरिक अभिलाषाओं को सहज ही व्यक्त करते हैं।

बालक की प्रकृति

'एडूकेशन ऑफ मैन' नामक पुस्तक में फ्रोबेल रूसो की इस बात से सहमति प्रकट करता है कि मनुष्य की जन्मजात भ्रष्टता के रूढ़िगत सिद्धान्त के विरुद्ध आवाज उठानी चाहिये तथा उसे मनुष्य की जन्मजात अच्छाइयों को स्वीकार करना चाहिये। वह कहता है "निःसन्देह मानव-प्रकृति अपने में दोषहीन है। मनुष्य में अच्छे गुण एवं अच्छी प्रवृत्तियाँ हैं। मनुष्य अपने में दोषयुक्त नहीं है।" उसका यह विश्वास है कि प्रत्येक दुर्गुण एक गुण है जो कि आरम्भ से ही विपरीत दशा में परिवर्तित कर दिया गया है। इस प्रकार मानव-हृदय के सभी दोष एवं दुर्गुणों का कारण दोषयुक्त विकास ही है तथा विकास का अभाव असंगत विधि से शिक्षा देने के कारण होता है। जिस प्रकार रूसो ने आरम्भिक शिक्षा का निषेधात्मक या उपचारात्मक रूप निश्चय किया था उसी प्रकार फ्रोबेल के विचार में मानव की स्वाभाविक अच्छाइयों का ध्यान रखते हुए निर्देश एवं प्रशिक्षण के रूप में शिक्षा मूलतः और सिद्धान्ततः विरोध रहित अनुगमन में होनी चाहिए। यह शिक्षा बालकों की सुरक्षा और निरीक्षण के रूप में होनी चाहिए, न कि परम्परागत क्रमबद्ध हस्तक्षेप के रूप में।

वर्तमान शिक्षा पद्धति में फ्रोबेल द्वारा प्रतिपादित अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार है कि मानव एक ज्ञान-ग्राहक ही नहीं है वरन् वह आवश्यक रूप से उत्पादक एवम् गत्यात्मक है। मनुष्य स्वक्रियाशील

शक्ति है, वह एक शोषक की भाँति नहीं है जो कि बाह्य आधार से ज्ञान अर्जित करता है। यह ऐसा प्राणी है जो स्वयं क्रिया करता है। अपनी इच्छाओं को प्रकट करना इसकी स्वाभाविक प्रकृति है। आत्मक्रिया ही एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी प्रकृति को जान सकता है. अपनी दुनिया का निर्माण करता है और अपने भाग्य के निर्माण के लिये प्रयत्नशील होता है। फ्रोबेल के इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण इस प्रकार है "ईश्वर अबाधित तारतम्य में उत्पादन तथा रचना-कार्य करता है। उसका प्रत्येक विचार एक कार्य, एक क्रिया एवं एक उत्पादन है। ईश्वर ने मनुष्य को अपनी ही आकृति के अनुसार निर्मित किया है। तात्पर्य यह कि उसने मनुष्य में अपने गुणों का समावेश किया है अतएव मनुष्य को भी ईश्वर के समान रचनात्मक एवं उत्पादन कार्य करना चाहिये। हम उद्योग एवम् परिश्रम में, क्रिया एवम् हस्तकार्य में, तथा उत्पादन एवम् रचना में ठीक ईश्वर के अनुरूप हो जाते हैं"।

मनुष्य का स्वभाव ही रचनात्मक कार्यों का है

फ्रोबेल का शिक्षा-सिद्धान्त

फ्रोबेल ने शिक्षा के लिये जिन उद्देश्यों को निर्धारित किया है वे उसके आधारभूत सिद्धान्त आत्मक्रिया के द्वारा प्राप्त आत्मानुभव से एकरस हैं। उसके अनुसार पूर्ण जीवन एवं संस्कृति, जीवन की बाह्य एवं आन्तरिक क्रियाओं में सर्व सम्पन्नता और समरसता उत्पन्न करना मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिये। फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा का अर्थ है बाल-जीवन की सर्वांगीणता के लिये विभिन्न विशेषताओं का विकास करना जिससे वह पूर्ण मनुष्य के स्तर तक पहुँच सके तथा 'अपने पौरुष में, नैतिक शक्ति में और बौद्धिक एवम् आध्यात्मिक शक्ति में पूर्ण हो सके। व्यक्ति के लिये आत्मा, प्रकृति, ईश्वर एवं आन्तरिक नियम जो कि इन सब में

शिक्षा का उद्देश्य

सम्बन्ध स्थापित करता है, का ज्ञान अति आवश्यक है। फ्रोबेल कहता है "शिक्षा को मनुष्य का अपने सम्बन्ध में स्पष्टता के लिये, अपनी शक्ति की सजगता के लिये, प्रकृति से सम्पर्क स्थापित करने के लिये तथा ईश्वर से एकता स्थापित करने के लिये, निर्देशन एवम् पथ-प्रदर्शन करना चाहिये। इस कारण से उसे आत्मज्ञान एवम् मनुष्यत्व, ईश्वर एवम् प्रकृति के ज्ञान के लिये तथा जीवन को शुद्ध एवम् पवित्र बनाने के लिये पर्याप्त निर्देशन करना चाहिये"।

आत्म-क्रिया

जब कि पेस्टालॉजी केवल यांत्रिक, निर्जीव, पुनरुत्पादक क्रिया के अनुकरण से सन्तुष्ट था, फ्रोबेल ने प्रत्यक्ष, निश्चित, रचनात्मक आत्म-क्रिया को शिक्षा का आधारभूत सिद्धान्त बनाया। फ्रोबेल बालक को एक क्रियाशील प्राणी मानता है। बालक जन्म से ही क्रियाशील रहता है। वह किसी भी कार्य को क्रिया द्वारा सीखता है। वह कार्य जिसमें क्रिया की आवश्यकता नहीं पड़ती या जो क्रिया के द्वारा सम्पन्न नहीं होता, शारीरिक एकता को भंग कर देता है और एक निष्प्राण अनुभव के रूप में ही स्थिर रह जाता है। बालक की यह दैवी देन, क्रिया करने, कार्य के परिचालन, क्रिया के सम्पादन, क्रिया के निर्माण तथा क्रिया की रचना करने की यह प्रवृत्ति, उसके विभिन्न क्रियाकलापों में समुचित रूप से अभिव्यक्त होनी चाहिये। बाल्यावस्था के प्रारम्भ से ही यह क्रियाशीलता शिक्षा के द्वारा उत्पन्न की जानी चाहिये।

शिक्षा में खेल का महत्व

फ्रोबेल ही वह प्रथम शिक्षाविद् था जिसने अत्यन्त स्पष्ट रूप से बालक के सर्वाङ्गीण एवम् समुचित विकास में खेल की आवश्यकता के महत्व को जाना। वह कहता है "बालक के विकास का उच्चतम रूप खेल ही है क्योंकि यह स्वक्रियात्मक है तथा अन्तःमन का वास्तविक प्रतिनिधि है और आन्तरिक आवश्यकताओं को प्रकट करने के लिए अन्तरतम का प्रतिनिधित्व करता है। यह प्रसन्नता, स्वतंत्रता, संतोष

तथा बाह्य जगत में शान्ति प्रदान करता है।" फ्रोबेल इस बात की चेतावनी दे देना चाहता है कि बालक के खेल एवम् कार्य या व्यापार को किसी भी रूप में बाह्य क्रिया के रूप में न समझना चाहिए अथवा केवल समय व्यतीत करने का एक साधन मात्र न मानना चाहिए वरन् खेल और शिक्षा सम्बन्धी कार्य को एक ही समान समझना चाहिए। अर्थात् पढ़ाई के साथ ही खेल भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्रियाशीलता में फ्रोबेल ने अपने उद्देश्य की पूर्ति का बीज प्राप्त करने के कारण ही खेल और कार्य को एक समान ही माना है। शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि वह खेल के द्वारा लगातार एवम् स्वतंत्र रूप से होने वाले बालक के विकास को संगठित करे तथा उसका उचित निर्देशन करे। उसका कार्य है बालक के ज्ञानेन्द्रियों को जागृत करना, बालक को अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उचित शब्दों को खोजने में सहायता करना तथा खेल-विधि के द्वारा इस प्रकार के प्राप्त ज्ञान को स्थायित्व प्रदान करने का उपाय बताना।

शिक्षा में स्वतंत्रता

रूसो के समान ही फ्रोबेल का मुख्य उद्देश्य था बालक को स्वतंत्रता के लिए प्रशिक्षित करना। वह मानवता के जागरूक प्रहरी बालक को संकेत करता हुआ कहता है कि "बालक को स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए बन्धनों एवम् शृङ्खलाओं से विद्रोह करना चाहिए"। वह आगे पुनः कहता है, "प्रकृति एवम् समाज के साथ पर्याप्त संतुलन एवम् सम्बन्ध स्थापित कर मानवजाति का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वह स्वतंत्र आत्मविकास, तथा स्वतंत्र आत्म-निर्माण करे और अपने लक्ष्य को स्वतंत्र रूप से निश्चित करने के लिए प्रयत्न करे"। फ्रोबेल कहता है कि बालक को यों ही स्वतंत्र वातावरण में छोड़ देना चाहिए जिससे उसकी रुचि का विकास हो सके तथा उसके निजत्व का उद्घाटन बिना किसी हस्तक्षेप के हो सके। संक्षेप में बालक के सहज विकास के लिए स्वतंत्रता का होना अति

आवश्यक है जिससे उसके वास्तविक गुण पूर्णतया प्राकृतिक विधि के द्वारा स्पष्ट हो सके।

फ्रोबेल ने शिक्षा की समस्या को सामाजिक पृष्ठभूमि में देखा है। वह इस बात में रूसो से एक कदम और आगे बढ़ गया है कि बालक न केवल एक व्यक्ति है वरन् वह एक समूह का भी सदस्य है। वह बालक को समाज से दूर नहीं भगाना चाहता वरन् बालक को सामाजिक वातावरण के अनुकूल बनाना चाहता है। वह बालक को इस कार्य के लिए इस प्रकार से प्रस्तुत करना चाहता है जिससे कि बालक का सामाजिक एवम् व्यक्तिगत अनुभव उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक हो सके। वह कहता है कि बालक की आत्माभिव्यक्ति अथवा निजत्व का विकास आत्मक्रिया के माध्यम से सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा होना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि फ्रोबेल ने अपने पूर्व के शिक्षाविदों की दो विपरीत धारणाओं का पर्याप्त समन्वय किया है। उसने हस्तक्षेप-हीन प्राकृतिक विकास के महत्व को स्वीकार किया है। किन्तु उसने यह भी अनुभव किया कि मनुष्य को सभ्य बनाने में समाज का बहुत बड़ा हाथ है। अतएव हमें समाज की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और न बालक को सामाजिक मूल्यों से रहित वातावरण में शिक्षा देनी चाहिए। फलस्वरूप फ्रोबेल ने विद्यालय को सामाजिक महत्व से युक्त संस्था बतलाया है तथा कहा कि सामाजिक सम्बन्धों एवम् क्रिया से प्राप्त अनुभवों द्वारा निजत्व को पोषित करने का माध्यम विद्यालय को होना चाहिए।

सामाजिक शिक्षा

फ्रोबेल ने पेस्टालॉजी के समान ही अत्यन्त उत्साहपूर्वक पारिवारिक शिक्षा के महत्व तथा घर एवम् विद्यालय में दृढ़ सम्बन्ध की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। फ्रोबेल द्वारा परिवार को इतना अधिक महत्त्व देने का विषय उसी के बाल्यावस्था के कष्टदायक अनुभवों के कारण अत्यन्त

पारिवारिक शिक्षा

मनोरंजक हो गया है। उसने कहा है कि "परिवार मानव उद्योगों का केन्द्रस्थल है"। पारिवारिक जीवन एक ऐसे उपयुक्त माध्यम को उत्पन्न करता है जिसमें बालक की क्रियाओं का बीजारोपण एवम् विकास होता है। केवल परिवार ही "अच्छे हृदय के विकास में सहायक होता है और उसको पूर्ण गहराई एवम् शक्ति में एक विचारात्मक और नम्र स्वभाव को प्राप्त कराने में भी सहायक होता है"। इसी कारण से फ्रोबेल कहता है कि बालक के माता-पिता का बालक की गृह शिक्षा के संबंध में उचित प्रशिक्षण होना चाहिए।

विकास की अवस्थायें

अन्य शिक्षाशास्त्रियों ने जिस प्रकार वंशात्मक विकास को प्रतिपादित किया था उसी प्रकार फ्रोबेल ने यह वर्णित किया है कि मानव का विकास अवस्थाओं के द्वारा होता है। वह क्रमिक एवम् लगातार विकास तथा एकता जिसमें संपूर्ण विकास की अवस्थाएं सन्निहित है, के महत्व को भी स्वीकार करता है। वह कहता है "निश्चित सीमाओं को स्वीकार करना तथा अवस्थाओं का विरोध करना निश्चित रूप से संकीर्णता है"। उसने इस बात को मानने से इन्कार कर दिया है कि विकास की अवस्थाओं के अन्तर्गत निश्चित आयु रहती है। उसका कहना है कि वे कुछ विशेष केन्द्रीय प्रवृत्तियों के द्वारा चिन्हित है न कि उनका निर्णय आयु से होता है। प्रत्येक अवस्था की केन्द्रीय प्रवृत्ति अन्य सभी विकासों को रोकती है तथा विशेष अवस्था के लिए शिक्षा के उद्देश्य को निश्चित करती है। फ्रोबेल ने यह प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक क्रमिक अवस्था के पूर्ण रूपेण एवम् शक्तियुक्त विकास की निर्भरता आगे आने वाली अवस्था के सबल, पूर्ण एवम् ठीक विकास पर ही है। इस बात पर बल नहीं दिया जा सकता कि अमुक अवस्था अधिक महत्वपूर्ण है और अमुक कम। एक अवस्था के बाद आगे आने वाली दूसरी अवस्था पहली पर आश्रित है, इस कारण से "अपने स्थान एवम् समय में प्रत्येक अवस्था का समान महत्व है"। जिन अवस्थाओं को फ्रोबेल ने स्वीकार किया है वे

निम्नलिखित हैं:—शैशवावस्था, बाल्यावस्था, पूर्व किशोरावस्था, युवावस्था तथा प्रौढ़ावस्था।

विकास की अवस्थाएं तथा उनकी विशेषताएं

फ्रोबेल की महत्ता इस बात में अधिक है कि उसने मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्थाओं का बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से प्रतिपादन किया है। हमारा मुख्य सम्बन्ध भी इसी से है। इस स्थल पर फ्रोबेल के विस्तृत प्रतिपादित सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना वस्तुत: पुस्तक के आकार के दृष्टिकोण से कठिन है इसलिए उसकी रूपरेखा को ही यहाँ पर उपस्थित किया जायगा।

शैशवावस्था—शैशवावस्था निर्भरता का काल है तथा यह माता-पिता के लिए "पोषण एवम् देख-रेख" की अवस्था है। फ्रोबेल का विचार है कि शिशु का वातावरण अत्यंत शुद्ध होना चाहिए तथा उसकी स्थिति इस प्रकार होनी चाहिए जिससे कि उसका प्रारम्भिक अनुभव श्रेष्ठतम हो सके। फ्रोबेल के अनुसार बालक का सीखना ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त बाह्य जगत के अनुभवों को ग्रहण करना है। इस अवस्था का विकास ज्ञानेन्द्रियों एवम् कर्मेन्द्रियों की क्रियाओं के द्वारा होता है। फ्रोबेल कहता है "विकासशील मनुष्य अपने शरीर, ज्ञानेन्द्रियों, तथा अंगों के प्रयोग, क्रिया एवम् अभ्यास से अब भी सम्बन्धित है। उनके साधनों के द्वारा जो कुछ वह ग्रहण करता है अथवा उसके प्रयोग का जो फल होता है, उससे वह सम्बन्धित नहीं है। ऐसे प्रभावों के प्रति तो वह पूर्ण उदासीन रहता है।" यहाँ पर फ्रोबेल इस बात के महत्व को प्रतिपादित करता है कि शिशु का कार्य अपने लिए ही होता है।

बाल्यावस्था—अपनी पुस्तक 'दि एजूकेशन आफ मैन' में विकास की जिस दूसरी अवस्था को फ्रोबेल ने प्रतिपादित किया है वह बाल्यावस्था है। यह अवस्था तीन वर्ष से प्रारम्भ होकर विद्यालय जाने की आयु अर्थात् छठें या सातवें वर्ष तक होती है। यदि शैशावास्था को पोषण की अवस्था कहा जाता है तो बाल्यावस्था को उसकी शिक्षा की।

फ्रोबेल की शब्दावली में यह अवस्था अन्तः की वस्तु को बाहर अभिव्यक्त करने की अवस्था है। इस अवस्था में बालक की मूलभूत प्रवृत्तियाँ जागृत होती हैं। इस अवस्था की विशेष क्रियाएँ निम्नलिखित हैं—इन्द्रियानुभव, भाषा तथा खेल। फ्रोबेल ने बाल्यावस्था को "प्रमुख रूप से बोली के विकास की अवस्था" माना है। उसने, खेल को "बाल-विकास का उच्चतम रूप माना है। उसने विभिन्न प्रकार के खेलों का निर्देश किया है। उसने यह भी दिखाया है कि उनका उपयोग पूर्व-विद्यालयीय शिक्षा में करना चाहिए। इस अवस्था की दूसरी गम्भीर और महत्वपूर्ण क्रिया है रेखा-चित्र बनाना। वस्तुतः फ्रोबेल ने बाल-विकास में भाषा के समान ही इसको भी महत्वपूर्ण बताया है। इस सम्बन्ध में उसने कहा है "रेखा चित्र की क्षमता बालक में उसी प्रकार सहजात है जैसे कि बोलने का गुण। यह रेखाचित्र का कार्य अपने विकास एवम् उत्पादन की माँग बोली के समान ही रखता है।" इस अवस्था में बालक को अपनी वस्तुओं को एकत्र करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए क्योंकि बालक इस अवस्था में एकत्र करने का इच्छुक होता है।

पूर्व-किशोरावस्था—पूर्व-किशोरावस्था का काल छः या सात वर्ष से नौ या दस वर्ष तक होता है। फ्रोबेल इस अवस्था को "सीखने की अवस्था" कहता है जिसमें निर्देश अधिक महत्वपूर्ण होता है। फ्रोबेल ने जिसे "इच्छा की दृढ़ता" के नाम से अभिहित किया है; दूसरे शब्दों में चरित्र की दृढ़ता के विकास, की तैयारी के रूप में इस अवस्था में मूलभूत मानवीय संवेगों तथा रुचियों का विकास करना चाहिए। इस अवस्था में आत्मभिव्यक्ति उपयोगी रचनात्मक एवम् उत्पादक क्रिया-कलापों का रूप धारण कर लेती है। रचनात्मक क्रियाकलाप जिसकी ओर बालक का ध्यान केन्द्रित करना चाहिये वे कई प्रकार के हैं—बागवानी, लकड़ी के टुकड़ों, बालू, कागज आदि के द्वारा निर्माण। बालक के हृदय में अतीत के प्रति एक जिज्ञासा का भाव उत्पन्न होता है। वह कहानी, पौराणिक कथा तथा अन्य सभी प्रकार की कहानी

के प्रति आकर्षित होता है। वह अपने उद्गारों को अन्य रूपों में व्यक्त करने के अलावा गाना, रेखाचित्र, मॉडेल निर्माण के रूप में भी व्यक्त करता है। इस अवस्था में समूह की भावना अधिक प्रबल हो जाती है अतएव अनेक प्रकार के सामूहिक क्रियाकलापों को बालक के लिये सुलभ होना चाहिए। इस अवस्था में खेल का सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवम् मूल्यवान परिणाम नैतिक गुणों का जन्म होता है। बालक में न्याय, राजभक्ति, आत्म नियंत्रण, भ्रातृ-प्रेम तथा अन्य इसी प्रकार के गुण उत्पन्न होते हैं। फ्रोबेल के अनुसार प्रकृति का निरीक्षण करना पूर्व किशोरावस्था की विशेष रुचि है। शिक्षा सम्बन्धी पाठ्यक्रम के विभाजन की दृष्टि से फ्रोबेल ने इस काल में अध्ययन की चार शाखाओं को प्रस्तुत किया है। वे शाखाएँ निम्नलिखित हैं—(१) धर्म तथा धार्मिक प्रशिक्षण (२) प्राकृतिक विज्ञान तथा गणित (३) भाषा (४) कला।

किण्डरगार्टेन

फ्रोबेल की प्रसिद्धि वस्तुतः किण्डरगार्टेन के कारण अधिक है। इसकी स्थापना के लिए उसने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध भाग को लगा दिया। किंडरगार्टेन दो वर्ष से छः वर्ष की आयु वाले छोटे बालकों का बिना पुस्तक वाला अथवा निश्चित बौद्धिक कार्य से रहित विद्यालय है जिसमें खेल, स्वतन्त्रता एवम् प्रसन्नता व्याप्त होती है। विद्यालय के नियमित कार्य को प्रतिपादित करने के साथ ही साथ बालक के समक्ष घर के समान स्नेहयुक्त सौम्य का वातावरण उत्पन्न करता है। किंडर-गार्टेन में किसी भी प्रकार का सविधिक निर्देशन नहीं दिया जाता। शिक्षा की योजना पूर्ण रूपेण प्राकृतिक स्थितियों पर आधारित होती है। इसकी मूल भावना प्राकृतिक किन्तु निर्देशित आत्म क्रिया में होती है जो शैक्षिक, सामाजिक तथा नैतिक साध्यों को प्रभावित करती है। प्रमुख महत्व अभिव्यक्ति-शक्ति के विकास को दिया जाता है। किंडर-गार्टेन की मुख्य क्रियाएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) खेल और संगीत (२) उपहारों के साथ खेल तथा कार्य या व्यापार !

(३) प्रकृति 'अध्ययन या बागवानी (४) अभिव्यक्ति के अन्य रूप जैसे भाषा, रेखाचित्र आदि।

(१) *खेल और संगीत*—किंडरगार्टेन भावना की सबसे सुन्दर अभिव्यक्ति खेल और संगीत के द्वारा होती है। इसमें शिशु के ज्ञानेन्द्रियों, अङ्गों तथा अवयवों को क्रियाशील बनाये रखने की ओर विशेष दृष्टि रहती है तथा यह बालक के संवेगात्मक प्रकृति को अधिक क्रियाशील बनाता है। जब बालक खेलने लगते हैं तो स्त्री-अध्यापिका गीत गाने लगती है। खेल में व्यस्त सभी बालक उस गीत को दुहराते हैं। पचास 'खेल के गीत' किसी न किसी साधारण शिशु-खेल के साथ सम्बन्धित रहते हैं। यह खेल 'छिपी कुपउवल' या इसी प्रकार के क्रियात्मक खेल जिसमें बालक की क्रिया किसी घूमते हुए चक्र के समान सदैव परिचालित होती रहती है; इसके अन्तर्गत आते हैं। इन गीतों और खेलों का क्रम बालक की आयु तथा योग्यता के अनुसार रक्खा गया है। ये गीत और खेल कुछ व्यवसायों पर भी आधारित हैं जैसे काष्ठ का व्यवसाय आदि तथा ये बालक की विशेष शारीरिक, मानसिक अथवा नैतिक आवश्यकताओं पर भी विशेष ध्यान रखते हैं। फ्रोबेल का कहना है कि खेल, सामाजिक भावना उत्पन्न करके, बालकों में अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्नता में एकता के आध्यात्मिक सिद्धान्त की भावना को जन्म देता है। खेल की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए फ्रोबेल कहता है "बचपन केवल बचपन के लिये है, लड़कपन पढ़ने के लिये। बचपन खेल के लिये है और लड़कपन कार्य के लिये।"

किंडर गार्टेन के आवश्यक सामान—फ्रोबेल ही वह प्रथम शिक्षा-शास्त्री था जिसने बालक की क्रिया की अभिव्यक्ति के लिये किंडर-गार्टेन के आवश्यक सामानों का आविष्कार किया। इन आवश्यक सामानों की एक सूची को उसने 'उपहार' नाम से अभिहित किया है

तथा दूसरी को 'कार्य या व्यापार'। इनका प्रधान उद्देश्य है बालक की कर्मेन्द्रियों की उचित एवम् सुदृढ़ अभिव्यक्ति करना तथा बालक में रचनात्मक एवम् सौन्दर्यानुभूति की शक्ति का उदय करना है। फ्रोबेल यह कहता है कि वह सांकेतिक प्रतिनिधित्व के आधार पर अपने 'उपहार' तथा 'कार्य या व्यापार' विधियों के माध्यम से बालक में 'पूर्ण अस्तित्व' की भावना प्रत्यक्ष उपस्थित कर सकता है। फ्रोबेल के इसी 'सांकेतिकता' पर विशेष बल देने के कारण उसके विचारों एवम् व्यवहारों की समालोचकों द्वारा अत्यन्त कटु आलोचना हुई है।

१—उपहार—उपहार के अन्तर्गत खेल के वे सामान रहते हैं जिनका आकार रेखागणितीय रूपों के समान होता है तथा जिसके उपयोग के द्वारा बालक कई चीजों को सीख जाता है। इन उपहारों की संख्या सात हैं और वे निम्नलिखित हैं:—

(१) प्रथम उपहार के अन्तर्गत एक बक्स रहता है जिसमें छः विभिन्न रंगों के ऊनी गेंद होते हैं। इनका उपयोग खेल में होता है। इसके द्वारा बालक को रंग, स्पर्श, रूप, गति, दिशा तथा अवयव सम्बन्धी संवेदनशीलता का ज्ञान प्राप्त होता है।

(२) दूसरे उपहार में लकड़ी अथवा अन्य किसी कड़ी वस्तु के बने गेंद, बेलनाकार ठोस तथा घन आते हैं। इस प्रकार घनों की स्थिरता तथा गोले की क्रियाशीलता में एक प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। बेलनाकार ठोस में उपरोक्त दोनों वस्तुओं यथा लकड़ी के गेंद और घन की समरसता हो जाती है। इनसे बालक को वस्तुओं की समानता तथा असामनता, गति तथा आकार का ज्ञान मिलता है।

(३) तीसरे उपहार के अन्तर्गत एक लकड़ी का घन जो आठ छोटे-छोटे घनों से निर्मित होता है, आता है। इन घनों को अलग करने, पुनः एकत्र करने तथा विभिन्न आकार बनाने से बालक की रचनात्मक शक्ति का विकास होता है और साथ ही साथ बालक

गणित भी सीख लेता है। बच्चों की विध्वंस एवम् रचना की प्रवृत्तियों का समुचित विकास इसके द्वारा होता है। बालक इन उपहारों से तिपाई, खिड़की तथा पुल आदि बनाते और बिगाड़ते हैं।

(४-६) चौथा, पाँचवाँ तथा छठाँ उपहार घनों के विभिन्न विभाजनों से सम्बन्ध रखता है जिससे विभिन्न प्रकार और नाप के ठोस आकारों की रचना होता है। इनके द्वारा संख्या, सम्बन्ध एवम् आकारों के प्रति रुचि उत्पन्न की जाती है।

(७) अन्तिम उपहार के अन्तर्गत वर्ग एवम् त्रिभुज, तथा छल्लें आदि आते हैं। इसके द्वारा ज्योमितीय ज्ञान के प्रति एवम् कलात्मक रचना के प्रति बालकों को उत्साहित किया जाता है। वस्तुतः इन उपहारों का प्रयोग रेखागणित की नींव का कार्य करता है।

२—*कार्य या व्यापार*—कार्य या व्यापार वे क्रियाकलाप हैं जिनमें कागज, मिट्टी, लकड़ी और इसी प्रकार के अन्य साधनों की सहायता ली जाती है। ये हस्तकार्यों एवम् रचनात्मक कार्यों की नींव है। कार्य या व्यापार के अन्तर्गत रचनात्मक क्रियाओं की एक लम्बी सूची आती है। वे क्रियाएँ निम्नलिखित हैं:—मिट्टी के खिलौने बनाना, दफ्ती के सामान बनाना तथा काटना, कागजों का मोड़ना, लकड़ी चीरना, चटाई बनाना एवम् सिलना, माला पिरोना आदि। इसके पीछे फ्रोबेल का वास्तविक उद्देश्य था बालक में रचना के एक लम्बे क्रम का पता लगाना। इसके द्वारा बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति समानान्तर रूप से विकसित होती है तथा विकास के तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक नियम में एकरसता उत्पन्न होती है।

अन्य क्रियाकलाप—प्रकृति का अध्ययन तथा बागवानी, जो कि किंडरगार्टेन क्रियाकलापों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है, बालक में प्रकृति के प्रति प्रेम उत्पन्न करती है। बालक के बड़े होने पर विज्ञान के अध्ययन की पृष्ठिभूमि यही बचपन का प्रकृति-अध्ययन एवम्

बागबानी ही है। बालक के विचारों एवम् भावनाओं को स्पष्ट रूप से व्यक्त कराने में भाषा सहायक होती है। कहानियाँ एवम् परियों की कथाएँ बालक की कल्पना शक्ति को विकसित करती हैं। बालक के बड़े होने पर ये ही कहानियाँ साहित्य एवम् इतिहास के प्रति रुचि उत्पन्न करने में बहुत बड़ी सहायिका होती हैं। रेखाचित्र और चित्र-कला उसके आत्म-भावना को उद्घाटित करती है तथा बालक में कलात्मक रुचि उत्पन्न करती है।

किंडरगार्टेन में सामाजिक शिक्षा—बालकों में सामाजिक भावनाओं को उत्पन्न करने एवम् समूहों में एकता उत्पन्न करने के लिए फ्रोबेल ने किंडरगार्टेन के कमरे की जमीन पर एक बड़ा रंगीन चक्र चित्रित कराया था। दिवस का प्रथम अभ्यास यह था कि सभी बालक तथा अध्यापकगण इस चक्र के पास एकत्र होते थे तथा गीत, प्रार्थना एवम् खेल में समूह के साथ भाग लेते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बढ़ई, किसान, शिल्पकार आदि के अभिनयात्मक खेल भी फ्रोबेल ने प्रस्तावित किये हैं। इस प्रकार बालकों के समूह में भाव और उद्देश्य की एकता भर जाती है जो प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों की विशेषता हो जाती है। इस प्रकार किंडरगार्टेन ने "बालकों के लिये एक ऐसे लघु राज्य को प्रस्तुत किया है जिसमें नागरिक-बालक स्वतंत्र रूप से विच-रण करना सीख जाता है। लेकिन उसे अपने नन्हें साथियों की भी चिन्ता रहती है।"

इस प्रकार किंडरगार्टेन कार्य का प्रत्येक विभाग निश्चित नियमों के द्वारा बालकों को स्वतंत्र होने एवम् आत्म-क्रियाशील होने के लिए प्रशिक्षित करता है। यह दूसरों के निर्देशन का केवल उत्तर ही नहीं देता बरन् उसे कार्य रूप में परिणित भी करता है। यह स्वतंत्र कार्य बालक को बड़े होने पर पूर्ण स्वतंत्रता के नियम समझने के योग्य बना देता है। यह स्वतंत्रता का नियम ही वस्तुतः योग्य एवम् प्रगतिशील नागरिकता की आधारशिला है।

समीक्षा

फ्रोबेलवाद व्यवहार एवम् सिद्धान्त दोनों रूपों में बड़ी समीक्षाओं का विषय बना। उन आलोचनाओं में जो बातें उठाई गयीं उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं:—

(१) फ्रोबेल का विकास का सिद्धान्त बालक की प्रकृति अथवा जीवन को उद्घाटित करने में कम सफल हुआ है। यह एक निरर्थक सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त हमें निश्चित रूप से नहीं बताता कि बालक के विकास में हमें किस प्रकार आगे बढ़ना चाहिए।

(२) फ्रोबेल ने खेल को विद्यालय के नियमित कार्य का एक भाग माना है इसको बहुत कम शिक्षाविदों ने स्वीकार किया है। फ्रोबेल के इस अंग के विरोध में जो तर्क दिया गया है वह सामान्य रूप से यह है कि यह बालकों के गम्भीर अध्ययन की उपेक्षा करता है तथा वास्तविक ज्ञान की आवश्यकता एवम् महत्ता पर ध्यान नहीं देता।

(३) व्यवहार के क्षेत्र में यह शिक्षा-विधि एक दिखावा मात्र है। प्रोफेसर एडेम्स कहते हैं कि यह सिद्धान्त "कुछ निश्चित सामग्रियों का मिथ्या विचारों से युक्त एक महत्वाकांक्षी प्रयोग है।" किंडर-गार्टेन की सामग्रियों में, विभिन्न देशों के उपयोग की दृष्टि से तथा आज के समाज के औद्योगिक संगठन की दृष्टि से निश्चित रूपेण परिष्कार होना अत्यन्त आवश्यक है। फ्रोबेल के कुछ उदार समर्थकों ने यह महसूस किया है कि फ्रोबेल के इस सिद्धान्त के पीछे जो चेतना या शक्ति कार्य कर रही है उसे हमें अपनाना चाहिए न कि उसके व्यवहार के शब्दों को।

(४) फ्रोबेल के द्वारा खेल की प्रतीकात्मक आधारशिला प्रस्तुत करने के कारण उसका श्रेष्ठतम एवम् सुन्दरतम व्यवहार भी बुरी तरह से विवाद-ग्रस्त हो गया है। इस प्रकार से गेंद की गति बालक में कुछ रहस्यात्मक ढंग से अनुभव एवम् विश्व की एकता का प्रति-

निधित्व करती है। फ्रोबेल इस बात को भूल जाता है कि बालक के लिये गेंद केवल गेंद ही है और कुछ नहीं।

आधुनिक शिक्षा पर फ्रोबेल का प्रभाव

फ्रोबेल ने बाद की शिक्षा पर अपना बहुत अधिक प्रभाव डाला है। फ्रोबेल ही वह प्रथम शिक्षाविद था जिसने माता-पिता तथा शिक्षाविदों का ध्यान शिशु-शिक्षा (विद्यालय जाने के पूर्व) की ओर आकर्षित किया। फ्रोबेल के पूर्व इस आयु की अधिकतर उपेक्षा कर दी जाती थी। फ्रोबेल ने कर्मेन्द्रियगत अभिव्यक्ति एवम् सामाजिक कार्यों में भाग लेने की बात तथा पुस्तक-विहीन विद्यालय को स्थापित कर, शिक्षा के व्यवहार में मौलिक एवम् महान योगदान दिया है। पेस्टालॉजी के 'निरीक्षण' तथा हरबार्ट की 'रुचि' के समान उसके आत्मक्रिया, स्वतंत्र अभिव्यक्ति एवम विकास के सिद्धान्त ने बाद के समस्त शिक्षा-सिद्धान्तों पर अपना पूर्ण एवम् महान प्रभाव डाला है। आज कोई भी सफल विधि फ्रोबेल के सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं कर सकती। उसके व्यापक प्रभाव के कारण ही आज हम देखते हैं कि विश्व ने शिक्षा के क्षेत्र में खेल के महत्व को जाना है। बालक की रचनात्मक शक्ति के विकास की दृष्टि से तथा शिक्षा-सम्बन्धी अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी फ्रोबेल के द्वारा प्रतिपादित रचनात्मक कार्यों की महत्ता को आज स्वीकार किया गया है।

छोटे बालकों की शिक्षा में एक संस्था के रूप में किंडरगार्टेन ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसके प्रभाव के कारण शिशु विद्यालय के रूप में आशातीत सुधार हो गया। यद्यपि त्रय-विषय (पढ़ना, लिखना, तथा अंकगणित) की प्राचीन महत्ता प्रचलित है फिर भी बालक की व्यावहारिक सीख, खेल द्वारा निर्देशित व्यक्तिगत क्रियाकलापों के आधीन ही है जिसके द्वारा उसे अपने वातावरण सम्बन्धी महत्वपूर्ण बातों का ज्ञान प्राप्त होता है। फ्रोबेलवाद की चेतना केवल शिशु विद्यालय तक ही सीमित नहीं है।

विकासशील मनुष्यों के अध्ययन के लिए भी यह क्रिया आधारभूत तत्व है। इस प्रकार का विचार धीरे धीरे-किन्तु आवश्यक रूप से महत्व प्राप्त कर रहा है। विभिन्न प्रकार के 'कार्य या व्यापार' को भी विद्यालयों के पाठ्यक्रम में प्रयुक्त किया जाने लगा है। किंडरगार्टेन में कड़े अनुशासन का विलय एक ऐसा विचार है जो कि मन्द गति से और क्रमशः शिक्षा के उच्चतर स्तरों तक फैल गया है।

फ्रोबेल के विचारों का विस्तार विद्यालयीय शिक्षा के बाहर भी हुआ है। बालकों के लिये खिलौनों, खेलों, पाठ्य-पुस्तकों, तथा खेल के सामानों को निर्माण करने वालों को फ्रोबेल के सिद्धान्तों ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। फ्रोबेल के दर्शन की व्यापक महत्ता का ज्वलन्त प्रमाण इसी बात से मिलता है कि प्रसिद्ध शिक्षाविदों यथा जी० स्टैनली हाल, मैडम मान्टेसरी तथा जान डीवी सभी पर फ्रोबेल का रंग चढ़ा हुआ है।

फ्रोबेल के सिद्धान्तों के महत्त्वपूर्ण तत्त्व निम्नलिखित हैं जो उसका स्थायी योगदान हैं:—

(१) शिक्षा एक नैसर्गिक प्रक्रिया है। यह निश्चित रूप से बालक की क्रियाकलापों के नैसर्गिक विकास पर आधारित होनी चाहिए।
(२) विकास अन्दर से होता है। समस्त वास्तविक विकासों की जड़ आन्तरिक आत्म-क्रिया में निहित रहती है।
(३) प्रारम्भिक शिक्षा के लिये खेल एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।
(४) शारीरिक, मानसिक एवम् नैतिक शक्तियों के विकास के लिये रचनात्मक कार्य-कलाप प्रमुख साधन है।
(५) बालक के प्रशिक्षण का महत्वपूर्ण भाग सामाजिक शिक्षा है।
(६) बालक के जीवन के प्रत्येक स्तर की विशेष रुचि एवम् क्रियाकलापों के आधार पर ही शिक्षा का पाठ्यक्रम निर्मित होना चाहिए।
(७) मानवजाति अब भी विकास की प्रक्रिया की स्थिति में है इसलिये भावी विकास के लिये शिक्षा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है।



मेरिया मॉन्टेसरी (१८७०— १९५२)

"यदि किसी भी प्रकार की मुक्ति अथवा सहायता की आशा करनी है तो हमें बालकों की ओर अपनी दृष्टि डालनी चाहिए क्योंकि बालक ही मनुष्य एवम् मानव-समाज का निर्माता है।"

—मॉन्टेसरी

अध्याय—६

मेरिया मॉन्टेसरी

(१८७०—१९५२)

भूमिका

एक लब्ध-प्रतिष्ठ शिक्षा-नेता द्वारा व्यक्त निम्नलिखित विचारों के द्वारा मेरिया मॉन्टेसरी की महानता सरलता से आँकी जा सकती है। उनका कथन है "किसी भी पीढ़ी में एक बार अवश्य ही एक ऐसी प्रतिभासम्पन्न एवम् नवजीवन के सन्देश से युक्त आत्मा जन्म लेती है जो कि सम्पूर्ण मनुष्यों को नूतन कार्यों एवम् साहसी प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करती है। शिक्षा के इतिहास में ऐसी महान् आत्माएँ हुई हैं। अपनी इस पीढ़ी में इस प्रकार की जिस महान् आत्मा ने जन्म लिया है वह है मेरिया मॉन्टेसरी।" उन्होंने सर्वप्रथम बाल्यावस्था के अति संवेदनशील काल की खोज कर शिक्षा के क्षेत्र में उसके प्रयोग को महत्व दिया है। उन्होंने बालकों के अधिकारों के प्रति जोरदार आवाज उठाई तथा बालकों के लिए एक ऐसे वातावरण प्रस्तुत करने पर बल दिया जो कि उनके उचित विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति करता हो तथा जहाँ पर बालक बाधा-विहीन एवम् हस्तक्षेप-हीन स्वतंत्रता की वायु में श्वास ले सकें। मॉन्टेसरी ने बालकों की शिक्षा के क्षेत्र

में स्तुत्य कार्य किया है। विद्यालय जाने के पूर्व के बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में मनोविज्ञान पर आद्योपान्त आधारित आधुनिकतम् एवम् सर्वव्यापक जिस शिक्षण विधि को इतनी अधिक मान्यता प्राप्त हुई है उसका श्रेय मॉन्टेसरी को ही है। उसने अपनी शिक्षण विधि के द्वारा बालकों के स्वभाव में आश्चर्यजनक रूपान्तर किया है। उसने अपनी विधि द्वारा "चिड़चिड़े स्वभाव से प्रसन्नचित्त कार्यकर्त्ता" के रूप में तथा अनियंत्रित एवम् शरारती बालक को एक अध्यात्मिकता से युक्त शान्त बालक के रूप में परिवर्तित किया है। उसे महान् श्रेय तो इस बात का है कि उसने उपेक्षित बालकों को कार्यों की विभिन्न योजनाओं में उचित स्थान प्रदान किया है। उसने सिद्धान्त एवम् व्यवहार में सदैव मानव जाति के लिए एक मजबूत एवम् सशक्त नींव पर सुख और शान्ति का भव्य भवन निर्मित करने की आशा सुदृढ़ कर दी है। सुख और शान्ति की यह नींव है संसार के बालकों की सर्वथा स्वतंत्र एवम् प्रजातांत्रिक शिक्षा।

जीवन तथा शिक्षा-रचनाएँ

डा० मेरिया मॉन्टेसरी का जन्म रोम के इटली शहर के एक सम्पन्न परिवार में सन् १८७० ई० में हुआ था। रोम के विश्वविद्यालय में उसने डाक्टरी की शिक्षा प्राप्त की। मॉन्टेसरी रोम विश्वविद्यालय से एम० डी० (डाक्टर इन मेडिसिन) की उपाधि प्राप्त करने वाली प्रथम महिला थी। शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उसने मन्द बुद्धि एवम् अंगविहीन बालकों की चिकित्सा का कार्य प्रारम्भ कर दिया। अपने इन अनुभवों के फलस्वरूप उसने बालकों की शिक्षा की एक नई पद्धति का निर्माण किया। मॉन्टेसरी ने विद्यालय जाने के पूर्व शिक्षा का मूल आधार 'इन्द्रिय-शिक्षण' बनाया। यह मॉन्टेसरी की चिकित्सा विषयक प्रशिक्षण के महत्व को प्रकट करता है।

बालकों के साथ उसका प्रथम अनुभव उस समय हुआ जब वह विश्वविद्यालय के मानसिक चिकित्सालय की एक सहायिका थी। बाद में वह विकलांग बालकों के एक विद्यालय की निर्देशिका बन गई। यहीं उसके मन में बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में रुचि जागृत हुई। उसने लिखा है कि "मैंने यह अनुभव किया है कि मानसिक न्यूनता मुख्य रूप से चिकित्सा सम्बन्धी प्रश्न न होकर शिक्षा सम्बन्धी प्रश्न है।" मानसिक मन्द बुद्धिता की चिकित्सा के दो महान स्तम्भ 'एडवर्ड सेग्विन' तथा डाक्टर 'इटार्ड' से वह बहुत अधिक प्रभावित हुई। उसने उनके कुछ उपायों को ग्रहण कर प्रयोग भी किया जिसमें उसे आश्चर्यजनक और महान सफलता प्राप्त हुई। १९०६ ई० में बालकों से व्यावसायिक रूप में सम्बद्ध होने पर उसमें शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न हुई। उसने 'बालकों के घर' नामक अनेक विद्यालयों की स्थापना की। ये विद्यालय शिक्षा की प्रयोगशाला के रूप में बन गए। वस्तुतः उसके जीवन का यह काल बालकों की शिक्षा सम्बन्धी गहन अध्ययन का एक व्यावहारिक परिणामों का काल था।

उसे इस बात का विश्वास हो गया कि विकारयुक्त बालकों के लिए प्रयुक्त शिक्षण विधि में जो कुछ तर्कपूर्ण शिक्षा के सिद्धान्त मिलते हैं उनका यदि सामान्य बुद्धि बालक पर प्रयोग हो तो उनसे व्यक्तित्व का बहुत अधिक विकास हो सकता है। एक प्रौढ़ महिला के रूप में मैडम मॉन्टेसरी ने विश्वविद्यालय से प्रयोगात्मक मनोविज्ञान तथा शिक्षण विज्ञान में सात वर्ष की शिक्षा ग्रहण की। इस प्रकार उसने रोम के बाल विद्यालयों की संगठनकर्त्री के पद पर नियुक्त होने की योग्यता प्राप्त कर ली। रोम की सरकार ने उसे उक्त पद पर प्रतिष्ठित भी कर दिया। इस प्रकार उसे अपनी शिक्षा-विधि के प्रयोग में उन बालकों की प्रवृत्तियों के अध्ययन का सुअवसर प्राप्त हुआ जो विशेष रूप से निर्मित स्वतंत्र वातावरण में खेलते थे। अपनी शिक्षण विधि के सम्बन्ध में उसने स्वयं लिखा है, "मैंने जो कुछ भी व्यक्त किया है

वह केवल बालक का अध्ययन है, तथा उसने मुझे जो कुछ दिया है उसे ग्रहण तथा व्यक्त करना ही वस्तुतः मॉन्टेसरी शिक्षण विधि का सार है।"

मॉन्टेसरी पद्धति पर आधारित शिशु विद्यालय की स्थापना संसार के मुख्य मुख्य देशों में हो गई तथा मॉन्टेसरी इस शिक्षा-आन्दोलन, जिसको शिक्षा के इतिहास में स्थायी महत्व प्राप्त हो चुका था, की अग्र-गामिनी के रूप में विख्यात हुई। सन् १६१३ ई० में उसने प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय व्याख्यान माला का समारम्भ किया तथा उसने संयुक्त राष्ट्र का भ्रमण भी किया। सन् १६१६ ई० में वह लन्दन गई जहाँ पर उसने अन्तर्राष्ट्रीय प्रशिक्षण शिविर का उद्घाटन किया। मॉन्टेसरी *विधि पर भारत में स्थापित विद्यालयों के संगठन-कर्त्ताओं के निमंत्रण* पर मेरिया मॉन्टेसरी भारतवर्ष भी पधारीं। उसने अदयार, काश्मीर, अहमदाबाद, पूना तथा अन्य स्थानों पर प्रशिक्षण शिविर का संगठन किया। इस प्रकार भारत में लगभग दस वर्षों तक निवास करने के पश्चात् वह पुनः इटली लौट गई जहाँ उसका देहान्त सन् १६५२ में हो गया।

डाक्टर मैडम मेरिया मॉन्टेसरी की मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

'दी सिक्रेट आफ चाइल्डहुड', 'दी मॉन्टेसरी मेथड', 'एडूकेशन फार ए न्यू वर्ल्ड' तथा 'चाइल्ड ट्रेनिंग।'

उसका दर्शन

मॉन्टेसरी कैथोलिक सम्प्रदाय को मानने वाली, प्रजातान्त्रिक तथा वैज्ञानिक थी। उसकी इस विविधता के कारण उसके दार्शनिक विचारों का एकीकरण करना अति कठिन है। एक कैथोलिक होने के कारण वह न तो प्रयोजनवादी और न प्रकृतिवादी ही जान पड़ती है। 'रस्क' उसके दर्शन को 'आध्यात्मिक यथार्थवाद' के नाम से संबोधित

करता है। यह सम्बोधन इस बात को प्रकट करता है कि बालकों की विकासात्मक आवश्यकताओं की ओर उसका ध्यान तथा वास्तविक जगत के व्यावहारिक अनुभवों पर उसका विशेष बल उसके धार्मिक सिद्धान्तों से असंगतपूर्ण नहीं था। 'हेस्सेन' का विचार है कि मॉन्टेसरी प्राकृतिक विज्ञानों के लिए अन्धविश्वासात्मक आदर सत्कार से सम्बन्धित संकीर्ण ऐन्द्रिकता एवम् प्रकृतिवाद से पूर्ण रूपेण ग्रस्त हैं। डाक्टरी व्यवसाय के उत्पन्न सुगम अनुमानों के कारण उसके सिद्धातों का आध्यात्मिक आधार अत्यन्त अस्पष्ट हो गया है। अतएव उसके दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रकृतिवादी संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

मॉन्टेसरी का शिक्षा सिद्धान्त

मॉन्टेसरी विधि का गम्भीर अध्ययन इस बात को प्रकट कर देगा कि इसके लेखक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त विगत शिक्षाविदों विशेष रूपेण फ्रोबेल के विचारों का अधिक विकसित रूप है। एक प्रकार से मॉन्टेसरी ने फ्रोबेल के प्रधान सिद्धान्तों को फिर से खोज कर अपने रूप से अपनी विधि में प्रयुक्त किया है। मॉन्टेसरी के महत्वपूर्ण शिक्षा सिद्धान्त, जिन पर हम विचार करेंगे, निम्नलिखित हैं :—(१) बालक सम्बन्धी विचारधारा (२) प्राकृतिक विकास (३) स्वतन्त्रता (४) स्वतन्त्रता द्वारा अनुशासन (५) खेल द्वारा शिक्षा (६) आत्मशिक्षा (७) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा (८) सामाजिक शिक्षा।

मॉन्टेसरी की शिक्षण विधि को समझने के लिए हमें उसकी बाल सम्बन्धी विचारधारा को जानना चाहिए। उसने बालक को स्वस्थ समाज की आधारशिला एवम् संपूर्ण उन्नति का उद्गम माना है। उसने इस बात की घोषणा की है कि "यदि किसी भी प्रकार की मुक्ति अथवा सहायता की आशा करनी है तो हमें बालकों की ओर अपनी दृष्टि

उसकी बाल सम्बन्धी विचारधारा

डालनी चाहिए क्योंकि बालक ही सम्पूर्ण समाज और मानव का निर्माता है।" मॉन्टेसरी के अनुसार जब तक हम बालकों की आत्मा के प्रच्छन्न गुणों को प्रकाशित अथवा समझने का प्रयत्न नहीं करेंगे, तब तक कोई भी सभ्यता अथवा संस्कृति पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकती। वह उन श्रेष्ठ शिक्षाविदों में थी जिन्होंने शिशु शिक्षा के महत्व को प्रतिपादित किया है। उसने यह विचार प्रकट किया है कि पूर्व-प्राथमिक स्तर में, जब की बालक का मस्तिष्क अति ग्रहणशील होता है तथा भावी जीवन का आधार निर्मित करता है, सुधार को प्रारम्भ करना चाहिए। बचपन अति साधारण संवेदनशीलता का काल है। इस समय, वातावरण के विभिन्न वस्तुओं के प्रभावों, दृश्यों, शब्दों को ग्रहण करने की शक्ति अति तीव्र होती है। बालक में शारीरिक एवम् आत्मा के विकास के नियम निहित रहते हैं। शिक्षा हमें इस प्रकार देनी चाहिए जो कि इन विकास के नियमों के उपयुक्त हो।

नैसर्गिक विकास

मॉन्टेसरी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा से यह तात्पर्य बिलकुल नहीं है कि मनुष्य के व्यक्तित्व को किसी दार्शनिक की विचारधारा के अनुकूल निर्मित कर लिया जाय और न इसका यह भी मतलब है कि उनको किसी विशेष संस्कृति या सभ्यता को ग्रहण करने के लिए बाध्य किया जाय वरन् उसका तात्पर्य है बालक की आन्तरिक शक्तियों को विकास के नैसर्गिक नियमों के अनुसार पुष्पित करना। अतएव बालक को शिक्षित करते समय हमें कठोरता एवम् दमन के मार्ग को बिल्कुल ही त्याग देना होगा तथा विकास के निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार प्राकृतिक मार्ग को ग्रहण करना होगा। शिक्षक का यह कार्य है कि वह इन विकास के सिद्धांतों का निरीक्षण करे एवम् उसको निश्चित कर बालक को उसकी शक्तियों को पूर्ण विकास एवम् प्रयोग में सहायता प्रदान करे। "शिक्षा का अर्थ" मॉन्टेसरी कहती है कि "बालक के जीवन को सामान्य रूप से विकसित करने के लिए सक्रिय सहायता देने से लगाना चाहिए।"

शिक्षा का सम्पूर्ण उद्देश्य बालक को अपने आप को विकसित करने के योग्य बनने के लिए आवश्यक सहायता प्रदान करना है। बालक को जो यह सहायता दी जाय वह उसकी आत्मिक आवश्यकताओं के अनुसार होनी चाहिए। व्यापक अर्थ में आत्माविषयक आवश्यकताओं के अन्तर्गत बालक के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवम् नैतिक आवश्यकताएँ आती हैं।

स्वतन्त्रता

मॉन्टेसरी को बालकों की स्वतंत्रता में बड़ा विश्वास है। बालकों के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग करती हुई वह कहती है कि बालक के विकास के काल में इसका प्रधान प्रयोजन हस्तक्षेप की अनुपस्थिति होनी चाहिए। बालकों के लिए जिस स्वतन्त्रता की उसने माँग की है वह अध्यापकों अथवा माता-पिता से छुटकारा नहीं है, न तो यह प्राकृतिक नियमों अथवा राज्य अथवा समाज के नियमों से मुक्ति प्राप्त करना ही है वरन् यह तो आत्म-विकास एवम् आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता से सम्बन्धित है। मॉन्टेसरी की दृष्टि में कोई भी व्यक्ति उस समय तक वास्तव में मुक्त नहीं है जब तक कि वह स्वतंत्र न हो जाय और वह स्वतंत्र उसी अवस्था में हो सकता है कि वह आत्म-निर्भर हो तथा अन्य किसी की सहायता के बिना अपने आप कार्य करने के योग्य हो सके। यह स्वतन्त्रता बालक द्वारा स्वतन्त्र क्रिया करने की आवश्यकता प्रकट करती है। इस स्वतन्त्रता के अन्तर्गत बालकों की सुप्त रचनात्मक शक्तियों के स्वतन्त्र विकास एवम् अभिव्यक्ति के लिए प्रत्येक सुविधा प्रदान की जाती है। मान्टेसरी ने जिस स्वतन्त्रता को प्रतिपोषित किया है वह कोई स्वच्छन्दता नहीं है वरन् यह "एक सुव्यवस्थित स्वतन्त्रता है।" बालक उस समय तक अपने को अभिव्यक्त करने के लिए स्वतन्त्र है जब तक कि वह अन्य बालकों की इसी प्रकार की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं पहुँचाता। मॉन्टेसरी विधि में

बालक को अपनी क्रियाओं को चुनने तथा अपनी रुचि तथा शक्ति के अनुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है।

मॉन्टेसरी ने स्वतंत्रता एवम् अनुशासन को एक दूसरे का विरोधी न मानकर पारस्परिक पूरक माना है। उसने कहा है "पूर्ण अनुशासन को प्राप्त करने के लिए हमारे पास स्वतन्त्रता होनी चाहिए तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए हममें पूर्ण अनुशासन होना चाहिए।" अतएव उसके विचार में अनुशासन स्वतन्त्रता से ही प्राप्त होता है। उसने लिखा है कि "मैं उस व्यक्ति को अनुशासन युक्त नहीं मानती जो कि किसी गूंगे व्यक्ति की भाँति कृत्रिम मौन को ग्रहण करता है अथवा लकवा की बीमारी से पीड़ित व्यक्ति की भाँति अचल रहता है वरन् मैं तो उसी व्यक्ति को अनुशासन से पूर्ण मानती हूँ जो अपने आप पर पूर्ण अधिकार रखता है तथा अपने व्यवहार को स्वयम् परिचालित करता है।" वास्तव में जब कि प्रत्येक को समान स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है तो उसकी सुरक्षा एवम् नियंत्रण की भावना भी प्रत्येक व्यक्ति में होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अनुशासन की समस्या का सम्बन्ध कार्य तथा किसी कार्य पर एकाग्रता के विकास से है। बालक को निर्मित वातावरण, उपयुक्त सामग्री तथा काम करने की आवश्यक स्वतंत्रता को प्रदान करने से उसमें कार्य करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है तथा उसमें सहजात अनुशासन अथवा आन्तरिक आत्म-नियंत्रण की भावना का जन्म होता है और वह कार्य आरंभ करने की क्षमता, आत्म-विश्वास आदि जैसे गुणों को विकसित कर लेता है। इस प्रकार प्राचीन परम्परा-सम्मत स्थिर अनुशासन के स्थान पर मॉन्टेसरी ने स्वतन्त्रता के द्वारा अनुशासन तथा ऐसे कार्यों के द्वारा अनुशासन जिनसे बालक में महान् चारित्रिक गुण विकसित हो सके, को प्रतिष्ठित किया है।

स्वतन्त्रता के द्वारा अनुशासन

खेल के महत्व पर दृष्टिपात करते हुए मॉन्टेसरी ने कहा है कि बालक को सर्वश्रेष्ठ शिक्षा खेल के द्वारा दी जा सकती है। बालक खेल

के द्वारा वस्तुओं का ज्ञान आसानी से प्राप्त कर सकता है। "एक बालक जो कि अपना अधिकांश समय खेल में ही व्यतीत करता है अपना समय व्यर्थ नहीं गुजारता। वह तो अपने को शिक्षित करने में व्यस्त रहता है।" बालक स्वयम् करके, अनुभव के द्वारा तथा त्रुटियों के द्वारा सीखता है। उसकी गहनतम रुचि है वस्तुओं की खोज करना, ग्रहण करना तथा प्राप्त करना। बालक की आत्म-प्रकाशन की इच्छा भी उसके खेल के कार्यों से प्रकट होती है। खेल के दौरान में बालक अनुभव करने, सोचने तथा कार्य करने की आदत डाल लेता है। अतएव बालक की शिक्षा के लिए खेल एक महत्वपूर्ण साधन है। जीवन की अधिकांश गम्भीर समस्याओं का सरलतापूर्वक सामना एवम् हल खेल द्वारा प्रसन्नतापूर्वक किया जा सकता है। किन्तु खेल के शैक्षिक मूल्य को प्राप्त करने के लिए बालक की खेल की प्रवृत्ति को, उनके व्यस्त कार्य को सुनियन्त्रित ढंग से सम्पन्न कराने के लिए, निश्चित सामग्री द्वारा नियंत्रित एवम निर्देशित करना चाहिए।

खेल द्वारा शिक्षा

मॉन्टेसरी के अनुसार उच्चकोटि की शिक्षा केवल स्व-शिक्षा अथवा आत्म-शिक्षा है। स्व-शिक्षा की प्रशंसा करते हुए किलपैट्रिक ने लिखा है कि "जितना अधिक बालक अपनी अनुभूति से बिना किसी अध्यापक की सहायता से सीखता है उतना अधिक वह ज्ञान का अधिकारी होता है।" इससे श्रेष्ठ कौन सी बात हो सकती है कि बालक अपनी समस्याओं पर स्वयम् विचार करे तथा वह स्वयम् समस्या के हल के लिए कोई योजना बनाए तथा अन्त में उसे स्वयम् के प्रयोगों द्वारा ज्ञात हो जाय कि उसकी योजना पूर्ण रूपेण ठीक है। स्व-शिक्षा को सम्भव बनाने के लिए मॉन्टेसरी ने 'डाइडेक्टिक मेटीरियल' नामक शिक्षा-सामग्रियों की रचना की है। मॉन्टेसरी की डाइडेक्टिक मेटीरियल्स, अथवा शिक्षा सामग्री निःसंदेह फ्रोबेल के उपहारों का एक महान् परिवर्धित एवम् विकसित रूप है।

स्व-शिक्षा

इन सामग्रियों में भूल का नियन्त्रण निहित रहता है। इस प्रकार यह प्रत्येक बालक के लिए स्व-शिक्षा को सम्भव कर देता है। मॉन्टेसरी विधि में बालक अपनी रुचि के अनुसार कार्य का चुनाव कर लेता है। वह इन सामग्रियों से बिना किसी हस्तक्षेप के खेलता तथा कार्य करता है। जब वह कोई गलती करता है तो अपनी गलती को खोजकर तथा सामग्री को विभिन्न तरीकों से प्रयोग कर गलती को सुधारता है, इस प्रकार वह अपने स्वयम् के प्रयत्नों के आधार पर कार्य को पूर्ण कर लेता है। वह अपने को निरीक्षण करने, विरोधों एवम् तुलना को निर्मित करने, निर्णय को बनाने एवं निर्णय देने के योग्य प्रशिक्षित कर लेता है। मॉन्टेसरी विधि में कोई भी पुरस्कार की योजना नहीं है। बालक को इसी बात में ही महान् सन्तोष प्राप्त होता है कि उसने बिना किसी के बताए अथवा बिना किसी अध्यापक की सहायता से समस्या का हल निकाल लिया है। अपने को ज्ञाता मानने की भावना ही उसका उच्चतम पुरस्कार है तथा उसका स्व-विकास ही उसकी वास्तविक एवम् महान् प्रसन्नता है।

मॉन्टेसरी ने पूर्व-विद्यालय काल के समय में बाद की संपूर्ण शिक्षा की आधार शिला के रूप में ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर बल दिया है।

ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा

वह कहती है "ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा का उद्देश्य है पुनरभ्यासों द्वारा भिन्न उत्तेजना से प्राप्त प्रत्यक्ष-ज्ञान का शोधन।" बालक ध्यान, तुलना एवम् निर्णय के आधार पर अपने ज्ञान का सुधार करता है। मॉन्टेसरी ने स्पर्शेन्द्रियों को आधारभूत वस्तु माना है। इसी के कारण मॉन्टेसरी की विधि को कभी-कभी "स्पर्श द्वारा शिक्षा" की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। वह कहती है कि जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में स्पर्शेन्द्रिय में महान् विकास होता है और यदि इस अवस्था में उस पर ध्यान न दिया जाय तो वह शिक्षा की ग्रहणशीलता को बिलकुल खो देता है। मॉन्टेसरी ने ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के लिए ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी सामग्रियों

एवम् अभ्यासों का निर्माण किया है। इन्हीं सामग्रियों के माध्यम से उसने बालकों की ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित करना चाहा है। मॉन्टेसरी ने ज्ञानेन्द्रियों के पृथक्करण अथवा एक समय में एक ही ज्ञानेन्द्रिय को प्रशिक्षित करने में अपना विश्वास प्रकट किया है। उसका यह पृथक्करण का सिद्धान्त उसकी विधि का एक महान् अंग है। इस सिद्धान्त के अनुसार बालक को विभिन्न संवेदनाओं को अलग करना होता है तथा प्रत्येक के लिए प्रत्यक्षीकरण की शीघ्रता एवम् तीव्रता का विकास करना होता है। इससे बुद्धि की और अधिक शुद्धता उत्पन्न होती है। सामान्य निरीक्षण इस बात को प्रकट करता है कि जब कोई भी ज्ञानेन्द्रिय असफल हो जाती है तो दूसरी और अधिक तीव्र हो जाती है और प्राप्त वस्तु के अधिक प्रयोग के लिए बुद्धि कार्य करती है। उदाहरण के लिए अन्धा मनुष्य स्पर्श के द्वारा बहुत सुन्दर विवेकपूर्ण योग्यता प्राप्त कर लेता है। स्पर्शेन्द्रिय के प्रशिक्षण के समय मॉन्टेसरी की विधि में बालकों की आँखों में पट्टी बाँध दी जाती है। इसी प्रकार से श्रवणेन्द्रिय के अभ्यास के लिए बालकों को न केवल शान्तिपूर्ण वातावरण में रक्खा जाता है वरन् उस स्थान में गहन अन्धकार भी कर दिया जाता है।

मॉन्टेसरी ने शिक्षा में सामाजिक भावना की उपेक्षा नहीं की है। ऐसी बात नहीं थी कि बालकों की सामाजिक आवश्यकताओं एवम् समाज सुधार की भावना पर उसने ध्यान नहीं दिया हो। मॉन्टेसरी-विद्यालय छोटे समाज के रूप में होता है जिसमें बालकों से इस बात की अपेक्षा की जाती है कि वे समूह की भलाई एवम् सुख के लिए स्वच्छता एवम् व्यवहार के मान्य स्तर को स्थापित करें। बालक कक्षा की स्वच्छता कुर्सी आदि को व्यवस्थित करने, भोजन वितरित करने आदि के लिए उत्तरदायी होते हैं। वास्तव में उसकी विधि में कार्य करने के लिए समूह बनाने की प्राकृतिक प्रवृत्ति में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं है और न

सामाजिक शिक्षा

तो बालक को किसी दूसरे के द्वारा निर्देशन प्राप्त करने की मनाही ही है। इन सामूहिक कार्यों यथा मेज को रखना तथा भोजन परोसना आदि के द्वारा बालक सामाजिक तौर तरीका तथा गरिमामय व्यवहार सीख जाते हैं। शर्मीले स्वभाव वाले तथा एकान्त पसन्द बालक और अधिक सामाजिक हो जाते हैं तथा शैतान बालक अति नम्र हो जाते हैं। किलपैट्रिक इस प्रकार के जीवन के व्यावहारिक कार्यों पर सहानुभूति पूर्ण दृष्टि डालते हुए कहता है कि "निःसन्देह यह बाल स्वभाव के उस पक्ष को जो अधिकतर असन्तुष्ट रहता है, अभिव्यक्त करता है। खेल के रूप में कार्य करने की अपेक्षा वास्तविक जीवन के लिए कार्य करने में बालक को प्रायः अधिक आनन्द मिलता है।"

मॉन्टेसरी विद्यालय

मॉन्टेसरी विद्यालय, जिनको 'बच्चों का घर' नाम से भी अभिहित किया जाता है, में ३ से ६ वर्ष तक के शिशुओं की शिक्षा का प्रबन्ध रहता है। मॉन्टेसरी विद्यालय का वातावरण एवम् विषय-वस्तु इस प्रकार तैयार किया गया है जिनमें वे सभी सिद्धान्त जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है, निहित रहते हैं। मॉन्टेसरी के विचार में विद्यालय कोई ऐसा स्थल नहीं है जो चार दीवालों से घिरा रहता है तथा जिनमें बालकों को बन्द एवम् सीमित कर लिया जाता है, वरन् उसकी दृष्टि में विद्यालय वह घर है जहाँ बालक स्वयम् अपने कार्यों के अधिष्ठाता होते हैं। यह विचार एक ऐसी दुनियाँ निर्मित करने की आवश्यकता प्रकट करता है जहाँ बालक शरीर और मस्तिष्क के विकास का अवसर प्राप्त कर सके।

एक आदर्श मॉन्टेसरी विद्यालय अत्यन्त शान्तिपूर्ण विशाल स्थान में स्थापित होता है, जिसमें खेल का मैदान होता है तथा एक मनोहर उद्यान जिसमें विभिन्न प्रकार के रंग बिरंगे फूल, पौधे, हरी तरकारियाँ तथा छायादार स्थान जिसके नीचे बालक काम कर सकें तथा खेल

सकें, रहता है। इस विद्यालय में इमारत, कुर्सी मेज आदि, सामग्री तथा अन्य आवश्यक सामान इस प्रकार अलंकृत रहते हैं जो कि बालकों की आयु एवम् आकार के उपयुक्त होते हैं। विद्यालय की इमारत अति उपयुक्त होती है जिसमें कमरे बहुत ऊँचे-ऊँचे नहीं होते, खिड़कियाँ बहुत नीची होती हैं जिससे बालक उसको खोल सकें तथा बन्द कर सकें अथवा काम करते समय उनसे झाँक सकें। कुर्सी मेज आदि बहुत हल्की तथा सुन्दर होती हैं तथा बालकों की आयु तथा माप के उपयुक्त निर्मित की जाती हैं। बालक इन कुर्सी मेजों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर बिना किसी आवाज के ले जाते हैं। दीवाल के चारों ओर नीचे श्यामपट लगे रहते हैं जिन पर बालक लिखते और चित्र खींचते हैं तथा उन दीवालों पर बालकों, परिवारों, प्राकृतिक दृश्यों फूलों तथा फलों के कलात्मक तथा मनपसन्द चित्र बने रहते हैं। बालकों के लिए विभिन्न रंगों की दरियाँ होती हैं जिसको बालक जमीन पर बिछाते हैं तथा उन पर बैठ कर काम करते हैं। विद्यालय के विभिन्न यंत्र बालकों की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं तथा बालकों में क्रिया करने की प्रवृत्ति जागृत करते हैं। विद्यालय के इन यन्त्रों से न केवल बालकों का शारीरिक एवम् मानसिक विकास ही होता है वरन् इनमें छोटे से परिवार-व्यवस्था की सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुएँ रहती हैं।

विद्यालय में बालकों की आत्मक्रिया तथा उनके सहज विकास करने का पूर्ण अवसर मिलता है। सम्पूर्ण वातावरण में बालकों को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। विद्यालय में कोई समय सारिणी, कोई निश्चित पाठ और कक्षा, कोई पुरस्कार तथा दण्ड की व्यवस्था नहीं रहती। बालकों को जिस कार्य को करने में सुख मिलता है उसे करने की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। स्वतंत्रता एवम् कार्य के द्वारा ही बालकों में अनुशासन की भावना उत्पन्न हो जाती है। विद्यालय का प्रसन्नतापूर्ण वातावरण स्वस्थ विकास का संकेत करता है। विद्यालय की स्थिति से खेल एवम् स्व-क्रिया, शारीरिक एवम् मानसिक विकास, पारस्परिक

समझौता, सहयोग तथा सहायता की भावना उत्पन्न होती है जो नैतिकता एवम् चरित्र का मूल है।

मॉन्टेसरी विधि

मॉन्टेसरी विधि अत्यन्त वैज्ञानिक है। बाल्यावस्था का ज्ञान ही इसकी आधारशिला है। यह बालक के मस्तिष्क एवम् शरीर सम्बन्धी खोजे हुए नियमों पर आधारित है। यह विधि मनोवैज्ञानिक भी है। शिक्षा की प्रक्रिया बालक की रुचि एवम् मानसिक विकास की स्थिति के अनुसार चलती है। इसका प्रयोग पाठ्यक्रम की आवश्यकता अथवा अध्यापक की कार्य योजना के अनुकूल नहीं होता। शिक्षण प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक क्षण उस समय उत्पन्न होता है जब कि बालक के मन में किसी वस्तु को जानने की इच्छा जागृत होती है। अतएव यह आवश्यक है कि हम ऐसे अभ्यासों को प्रस्तुत करें जो कि बालक की विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं से मेल खाते हों, जिनका अनुभव उसने उस निश्चित मनोवैज्ञानिक क्षण में किया था। यदि बालक कोई कार्य करने में असफल होता है तो अध्यापक को यह अनुमान कर लेना चाहिये कि वह कार्य असामायिक था तथा फिर से उस कार्य को प्रस्तुत करने के पूर्व उसको उन लक्षणों के जो कि आवश्यकता के अस्तित्व को प्रकट करते हैं, प्रकाशित होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

अब हमें मॉन्टेसरी की शिक्षण विधि के व्यवहारों पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। सुविधा की दृष्टि से हम उसके व्यवहारों को पाँच बड़े वर्गों में विभाजित करेंगे। वे पाँच वर्ग निम्नलिखित हैं:—

(१) कर्मेन्द्रिय अथवा पुट्ठों तथा अंगों की शिक्षा।
(२) व्यावहारिक जीवन के अभ्यास।
(३) ज्ञानेन्द्रियों का अभ्यास।
(४) भाषा की शिक्षा।
(५) अन्य विषयों की शिक्षा।

शिशु की क्रियाएँ निरन्तर गति से होती हैं किन्तु गति में असमानता होती है। तो भी उसकी कर्मेन्द्रिय एवम् अंग तथा पुट्ठे उस स्थिति से

कर्मेन्द्रिय अथवा पुट्ठे और अंगों की शिक्षा

हो कर गुजरते रहते हैं जहाँ पर गति की समानता स्थापित रहती है। जीवन की इस स्थिति में गति में शुद्धता, सुधार एवम् पूर्णता को प्रस्तावित करना शिक्षा सम्बन्धी कार्य के लिए एक अत्यन्त उत्पादक कार्य है। इस विचार को सामने रख मॉन्टेसरी ने अपनी विधि में गति के द्वारा शिक्षा को प्रतिपादित किया है। इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य है क्रमबद्ध एवम् समान गति का निर्माण करना तथा जीवन के व्यावहारिक कार्यव्यापारों से सम्बन्धित कर बालकों के जीवन में इसका प्रवेश करना।

मॉन्टेसरी ने बालकों को प्रतिदिन के प्राथमिक गतियों यथा टहलना, बैठना, ऊपर उठना तथा उनमें समान गति का विकास करना आदि में प्रशिक्षित करने के लिए कुछ कार्यव्यापारों एवम् अभ्यासों को प्रस्तुत किया है। ये अभ्यास निम्नलिखित हैं :—कुर्सी पर उठना तथा बैठना, घूमते समय रुकावटों को दूर करना, कूदना, सामानों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना, सीढ़ी से ऊपर चढ़ने तथा नीचे उतरने का ठीक-ठीक तरीका जानना, फ्रेम में बटन लगाना, दरवाजे में ताला लगाना तथा ताला खोलना, ठीक तरह से पुस्तक खोलना तथा एक एक करके पन्नों को पलटना आदि। छोटे बालकों को ठीक प्रकार से लाइन में चलने के लिए तथा ठीक संतुलन को स्थिर रखने के लिए मॉन्टेसरी ने "लाइन में चलने" को प्रस्तावित किया है। बालक खड़िया द्वारा अथवा रंग से जमीन पर खींची हुई अण्डाकार रेखाओं पर चलते हैं और संतुलन बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। गति में और अधिक नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए बालक इसी अभ्यास को हाथ में रंगीन पानी से भरे हुए गिलासों को लेकर बिना पानी छलकाए या एक घन्टी लेकर बिना उसकी आवाज किए हुए चलते हैं। इसी प्रकार

घूमने के कुछ अभ्यास बालक समूह में वाद्ययन्त्रों के संगीत के मध्य करते हैं। इससे बालक लय एवम् संगीत के ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। गति पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए एक दूसरे प्रकार का अभ्यास कराया जाता है जिससे पूर्ण शान्ति स्थापित करना सम्भव होता है। इस अभ्यास में एक ध्वनि भी नहीं निकलता, हल्के से हल्के शोर उदाहरण के लिए हाँथ-पैर हिलाने से उत्पन्न आवाज आदि भी नहीं होने पाता है। इन सब अभ्यासों का अन्तिम उद्देश्य यही है कि बालक अपने गति को पूर्ण कर सकें तथा उन पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकें एवम् उनमें सौंदर्य एवम् सुधार ला सकें।

व्यावहारिक जीवन का अभ्यास

व्यावहारिक जीवन के अभ्यास वास्तविक शिक्षा को निर्मित करते हैं। ये बालकों को अपनी देख भाल स्वयम् करने में सहायता देते हैं। बालक सामान्यतः सब कार्य स्वयम्, बिना किसी दूसरे की सहायता से करते हैं। इन अभ्यासों में बालकों के सामाजिक विकास को सफल करने का प्रत्येक प्रकार का प्रोत्साहन निहित रहता है। ये बालकों में नियमबद्धता का ज्ञान भी उत्पन्न करते हैं। एक माता ऐसी थी जिसकी सभी प्रशंसा करते थे। वह माता कहा करती थी कि जब तक उसके प्रत्येक बालक बारह वर्ष के नहीं हो गए तब तक उसने स्वयम् उनको नहलाया, कपड़ा पहनाया तथा उनका बाल सँवारा। बालकों को दी गई इस प्रकार की सहायता उनके विकास की सबसे बड़ी बाधा है। उन्हें तो इस प्रकार की सहायता देनी चाहिए जिससे उनका विकास और पनपे, न कि विकास रुक जाय। व्यावहारिक जीवन में जिन वस्तुओं का उपयोग होता है उन्हीं का उपयोग बालक विद्यालय में करता है। ये वस्तुएँ छोटे मनुष्य के आकार के अनुरूप होती हैं। मॉन्टेसरी विद्यालयों में जिन व्यावहारिक जीवन के अभ्यासों को प्रयुक्त किया जाता है उनका विभाजन पृष्ठ १४१ पर चार वर्गों में किया जा सकता है :—

(१) वातावरण की देख भाल—कक्षा को स्वच्छ एवम् साफ रखना, कुर्सी मेज को एक क्रम से व्यवस्थित करना, कुर्सी-मेज आदि को साफ करना, पुस्तकों को आलमारी में रखना, पौधों पर पानी छिड़कना, फलों और फूलों को एकत्र करना तथा पालतू पशुओं की देखभाल करना।

(२) अपनी देख भाल करना—हाँथ धोना, दाँत साफ करना, नाखून काटना, नहाना, कपड़ा पहिनना तथा उतारना, बाल सँवारना, कपड़े साफ करना, जूते साफ करना तथा उनमें पालिश लगाना।

(३) व्यक्तिगत व्यवहार—यह देखना कि बालक स्वच्छ एवम् साफ है या नहीं, चम्मच का ठीक प्रयोग, ठीक ढंग से खाना, भोजन के पश्चात् ठीक प्रकार से सफाई करना।

(४) सामाजिक व्यवहार—नमस्कार करने के तरीके, किसी को कोई चीज समर्पित करना, क्षमा माँगना, किसी को साथ ले जाना, भोजन परोसना, अतिथियों का स्वागत करना तथा उन्हें उपयुक्त स्थान पर बैठाना, अत्यन्त नम्र भाषा प्रयोग करना।

ज्ञानेंद्रियों का अभ्यास

मॉन्टेसरी विधि में ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा का बहुत महत्व है। ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित करके मान्टेसरी बालकों को निरीक्षण की विधि, वातावरण में विभिन्न वस्तुओं के वर्गीकरण की विधि, तथा पारस्परिक विभिन्नताओं को जानने की विधि को बताना चाहती है और इस प्रकार अपने ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बालक वातावरण पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के योग्य हो जाते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण के लिए मॉन्टेसरी ने कई ज्ञानेन्द्रिय-सामग्रियों को निर्मित किया है। इन सामग्रियों में उसने गुणों के पृथक्करण, समानता, विरोध, क्रम तथा आकर्षण के सिद्धान्तों को प्रयुक्त किया है। ज्ञानेन्द्रिय शब्द में पांच ज्ञानेन्द्रियाँ यथा दृष्टि, श्रवण, स्पर्श, गन्ध एवम् स्वाद, निहित हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों में विभिन्न प्रकार की संवेदनाएँ होती हैं जिनके लिए विभिन्न प्रकार के अभ्यास

करने होते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के अभ्यास एवम् उनके लिए जिन साम ग्रियों का प्रयोग मॉन्टेसरी विद्यालय में होता है, निम्नलिखित हैं :—

(१) दृश्येन्द्रिय—इनका विश्लेषण तीन संवेदनाओं के अन्तर्गत किया गया है—

(अ) आकार का प्रत्यक्षीकरण—आकार एवम् मोटाई में विभिन्न प्रकार के लकड़ी के बेलन तथा छड़ियों का समूह, हल्का गुलाबी रंग का बुर्ज तथा चौड़ी सीढ़ियाँ।

(आ) रूप का प्रत्यक्षीकरण—धातु या लकड़ी का रेखागणितीय आकार अथवा कागज़ पर खिंचे हुए आकारों का रूप।

(इ) रंगों का प्रत्यक्षीकरण—रंगीन कागज़ के टुकड़े, रंगीन ऊन एवम् रुमालों की क्रमिक माला।

(२) श्रवण का ज्ञान—इसमें निम्नलिखित संवेदनाएँ निहित रहती है—संगीतात्मक नाद, आवाज़ एवम् शोर। इसके लिए जिन सामग्रियों का प्रयोग होता है वे हैं घन्टियाँ तथा बेलनाकार ध्वनि-बक्स जो कि रूप आकार तथा रंग में तो समान होते हैं किन्तु ध्वनि उत्पादन करने में भिन्न होते हैं।

(३) स्पर्श की संवेदना—इन संवेदनाओं को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(अ) धरातल का ज्ञान—सरेस कागज़ के विभिन्न बनावट एवम् धरातल के टुकड़े, तथा खुरदुरे, चिकने तथा इन दोनों के बीच के विभिन्न धरातलों के कपड़ों के टुकड़े।

(आ) भार का ज्ञान—लकड़ी के टुकड़े जो कि आकार में तो बराबर हों किन्तु भार में भिन्न प्रकार के हों।

(इ) तापमान का ज्ञान—विभिन्न तापमानों के जल से युक्त बोतलें।

(४) घ्राण या सूँघने का ज्ञान—विभिन्न गन्धों की बोतलें तथा पाउडर।

(५) स्वाद का ज्ञान—विभिन्न स्वादों के द्रवों से भरी हुई बोतलें यथा मीठी, खट्टी, कड़वी तथा नमकीन द्रव आदि की बोतलें।

भाषा मानव-विकास का एक अत्यन्त शक्तिशाली साधन है। बालक अपने प्रारम्भिक वर्षों में ही भाषा पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। वह भाषा को ग्रहण करने की अत्यन्त अद्भुत शक्ति से सम्पन्न होता है। वह भाषा को वातावरण से ग्रहण कर लेता है तथा अपनी अभिव्यक्ति का एक संतोषपूर्ण माध्यम बनाता है। मॉन्टेसरी द्वारा जो ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण का ढंग ग्रहण किया गया है वह बालकों को शब्दों के सीखने में तथा अपने शब्द समूह को बढ़ाने में सहायता प्रदान करता है। सामान्यतः इस भाषा के प्रशिक्षण में निम्नलिखित तीन पदों का अनुसरण किया जाता है :–

भाषा की शिक्षा

(१) प्रत्यक्षीकरण का नाम से सम्पर्क—अध्यापक नामों एवम् विशेषणों को जोर-जोर से तथा स्पष्ट रूप से उच्चारित करता है। वह इस प्रकार से पुकारता है—"यह वस्तु लाल है।"

(२) नाम के द्वारा वस्तु को पहिचानना—"मुझे लाल वस्तु दो।"

(३) वस्तु के द्वारा नाम को याद करना—"यह किस रंग की चीज़ है?"

इस अवस्था में बालकों की बोली के विशेष दोष को अंकित कर लिया जाता है तथा उच्चारण के लिए ठीक प्रकार के अभ्यास कराए जाते हैं।

मॉन्टेसरी शिक्षण विधि में बालकों को पहले लिखना सिखाया जाता है बाद में पढ़ना। मॉन्टेसरी कहती है कि इस समय बालकों में मांसपेशियों का बहुत अधिक विकास हो जाता है जिससे बालकों को लिखना सीखना अति सरल हो जाता है। इसका विकास बालकों में सरलता पूर्वक तथा अपने आप सहज रूप में बोलने की भाँति हो जाता है। लिखने की प्रक्रिया से बालकों को महान प्रसन्नता होती है। इतनी अधिक प्रसन्नता पढ़ने

पढ़ने के पूर्व लिखना

से नहीं होती क्योंकि इसके अध्यापन के लिए अधिक समय की आवश्यकता होती है तथा यह भी आवश्यक है कि बालकों में उच्च बौद्धिक विकास हो चुका हो।

लिखने में बालकों को प्रशिक्षित करने के पूर्व मॉन्टेसरी चाहती है कि बालकों को कुछ प्रारम्भिक बातें सिखा दी जाँय। इनके अन्तर्गत लाइन खींचना, रेखागणितीय चित्रों की रूपरेखा खींचना आदि आते हैं। वर्णमाला को सीखने के लिए बालक सरेस कागज में कटे हुए वर्णाक्षरों पर उँगली फेरते हैं। बालक इस अभ्यास को आँख बन्द करके भी करते हैं। जब बालक उस अक्षर को लिखता है तो अध्यापक उसका जोर से उच्चारण भी करता जाता है। इस प्रकार बालकों में दृश्य, श्रवण एवम् कर्मेन्द्रिय की प्रतिमाएँ एक साथ स्थापित हो जाते हैं। लिखने की सामग्री को ग्रहण करने तथा प्रयोग करने में अंगों और पुट्ठों को नियंत्रित करने के लिए बालक कलम की तरह लकड़ी की छड़ी से अक्षरों पर हाथ फेरते हैं। दफ्ती के कटे हुए अक्षर के द्वारा बालकों को शब्दों का निर्माण सिखाया जाता है। बालक शब्द का विन्यास विभिन्न ध्वनियों में करता है, वह ध्वनि के आधार पर निश्चित अक्षर को उठा लेता है, उनको आपस में मिलाता है और इस प्रकार शब्द का निर्माण करता है। शब्द-निर्माण जान लेने के बाद बालक वाक्य खंडों तथा वाक्यों का निर्माण करता है। इस प्रकार पढ़ने का मार्ग भी निर्मित होता है।

लिखना

मॉन्टेसरी लिखे हुए शब्दों के दुहराने मात्र को पढ़ना नहीं कहती वरन् वह तो शब्दों में निहित जो विचार है उसको ग्रहण करने के लिए बालकों से अपेक्षा करती है। पढ़ने के पाठ के अन्तर्गत ऐसे कार्ड होते हैं जिनपर बड़े आकार में शब्द, वाक्य खंड तथा वाक्य अंकित रहता है। बालक उस शब्द को पढ़ता है और उस कार्ड को उस वस्तु के चित्र के नीचे रख देता है। कागज के चिटों पर आज्ञाएँ एवम् क्रियाएँ अंकित रहती

पढ़ना

हैं, बालक इनमें से कोई चुन लेते हैं, उन्हें शान्ति पूर्वक पढ़ते हैं तथा उनमें प्रतिपादित आज्ञा के अनुसार कार्य करते हैं।

व्याकरण

बच्चों को व्याकरण का ज्ञान 'व्याकरण-बक्स' नामक यंत्र से कराया जाता है। व्याकरण के जितने शब्द खण्ड (Parts of Speech) होते हैं उतने ही व्याकरण बक्स होते हैं। प्रत्येक बक्स में एक खण्ड के शब्दों से अंकित कार्ड होते हैं। प्रत्येक शब्द खण्ड के अलग-अलग प्रतीक होते हैं यथा काला त्रिकोण, लाल चक्र आदि। इस प्रकार बालक उस शब्द खण्ड को प्रतीकों के माध्यम से सीख जाते हैं। इसके पश्चात् बालकों से यह कहा जाता है कि पढ़े हुए पद के शब्दों के लिए उपयुक्त प्रतीकों को क्रम से रक्खें।

अन्य विषयों की शिक्षा

अंकगणित

अंकगणित की शिक्षा भी शिक्षा-उपकरण की सहायता से दी जाती है। ये उपकरण निम्नलिखित होते हैं :--संख्या सूचक छड़-छड़ के आकार से अंक को अभिहित किया जाता है; सरेस कागज के अंक—बालक इन अंकों को लिखते हैं और इस प्रकार वे इसके आकार से परिचित हो जाते हैं; धुरी बक्स—बालकों को वस्तुओं एवम् अंकों से परिचित कराने के लिए; खाने में रक्खे हुए मुद्रित अंक--इस अभ्यास से बालक को सम एवम् विषम अंकों का ज्ञान हो जाता है। जोड़ना, घटाना, गुणा करना, भाग देना, दशमलव आदि का अध्ययन भी इसी प्रकार के शिक्षा उपकरणों की सहायता से होता है।

रेखागणित

रेखागणित की शिक्षा एक ऐसे सन्दूक जिसमें विभिन्न प्रकार के रेखागणितीय आकृतियाँ यथा त्रिकोण, चक्र, चतुर्भुज आदि होते हैं, की सहायता से दी जाती है।

चित्रकला सिखाने का उद्देश्य है बालकों के हाथ को लिखने के योग्य बनाने के निमित्त शिक्षित करना। बालक रेखा तथा आकृति, वस्तु, रेखागणितीय आकृतियाँ, सजावट और डिजाइन बनाते हैं तथा विभिन्न वस्तुओं की रूप रेखाओं और डिजाइनों में रंग भरते हैं।

चित्रकला

बालकों को लय एवम् लयात्मक अभ्यास, गीतों को सुनाना, वाद्य यंत्रों को बजाना तथा स्वरों को पढ़ना तथा लिखना आदि सिखाया जाता है।

संगीत

प्रकृति-ज्ञान के अन्तर्गत बालक प्राकृतिक वस्तुओं से सीधा सम्पर्क स्थापित करते हैं। बागों में बीज बोना, पौधों में पानी देना, फूल एवम् फल को एकत्र करना, पालतू जानवरों एवम् चिड़ियों की निगरानी करना आदि कार्य करते हैं।

प्रकृति-ज्ञान

रचनात्मक कार्यों के अन्तर्गत बालू अथवा लकड़ी के टुकड़ों से घर का निर्माण करना, शहर की रचना करना, सड़कों को बनाना तथा पुल का निर्माण करना आदि कार्य आते हैं।

रचनात्मक कार्य

अध्यापक

मॉन्टेसरी विद्यालय की अध्यापिकाओं का उद्देश्य न तो बालकों के मस्तिष्क को विभिन्न वस्तुओं के ज्ञान से भरना है और न बालकों को बिना त्रुटि किए हुए वस्तुओं के प्रयोग के योग्य बनाने के लिए प्रशिक्षित करना ही है, उसका उद्देश्य तो ऐसे वातावरण को निर्मित करना है जिसके मध्य बालक अपना मानसिक विकास कर सके। अध्यापिका का यह कर्तव्य है कि वह वातावरण से क्रियाशील एवम् रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में बालकों को सहायता पहुँचाए तथा उनको वस्तुओं के समीप कर दें जिससे वे अपने प्रयत्न से

स्वयम् को शिक्षित कर सकें। मॉन्टेसरी विधि में अध्यापिका का कार्य एक पथ-प्रदर्शिका का कार्य होता है। उसे बालकों के "जीवन एवम् उसकी आत्मा" का पथ-निर्देशन करना चाहिए। इसी कारण से मॉन्टेसरी ने "अध्यापिका" शब्द के स्थान पर "निर्देशिका" शब्द को प्रयुक्त करना अधिक उचित समझा है। उसका कार्य संगठन करना, निरीक्षण करना, सहायता देना, प्रोत्साहित करना, मार्ग-प्रदर्शन करना तथा अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करना है। उसका कार्य हस्तक्षेप करना, प्रतिबन्ध लगाना अथवा निश्चित कार्य बताना नहीं है। अध्यापिका की कला इस बात में नहीं है कि वह उस स्थिति को पहिचाने कि बालक के कार्यों में कब हस्तक्षेप किया जाय वरन् उसका कार्य इससे भी कठिन यह है कि वह बालकों को हस्तक्षेप से बचाए।

मॉन्टेसरी विधि के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यहाँ ऐसे अध्यापक की ही आवश्यकता है जो केवल बालकों को हस्तक्षेप से बचावे तथा बालकों को स्वयम् अपने कार्य को करने के लिए छोड़ दे। मॉन्टेसरी ने इस बात पर बल दिया है कि अध्यापिका का परोक्ष कार्य केवल निष्क्रियता ही नहीं है वरन् उसका कार्य "व्याकुल वैज्ञानिक जिज्ञासा है। अध्यापिका को एक निरीक्षिका होने का उत्तरदायित्व समझना चाहिए।" अध्यापिका को विचारों या शब्दों, उसकी शक्ति, तथा कठोरता की आवश्यकता नहीं है वरन् उसमें बुद्धि, निरीक्षण की पैनी दृष्टि, सेवा भाव, आग्रह, आदि की आवश्यकता है। उसे शान्ति, धैर्य, प्रेम एवम् नम्रता के समन्वय का प्रयत्न करना चाहिए। उसकी मुख्य योग्यताओं में शब्दों का ज्ञान नहीं है वरन् उपरोक्त गुणों का होना है।

मॉन्टेसरी विधि में अध्यापिकाओं को विभिन्न सामग्रियों के विधिवत प्रयोग को जानना आवश्यक है, उन्हें स्वयम् उनसे पूर्ण परिचित होना चाहिए। वस्तुओं को अत्यन्त आकर्षक रूप से, ठीक समय पर प्रस्तुत करने तथा उसके प्रदर्शन करने के योग्य अध्यापिका को

होना चाहिए। उसे "मनोवैज्ञानिक क्षण" के प्रति पूर्ण जागरूक रहना चाहिए। इसी मनोवैज्ञानिक क्षण में बालकों के समक्ष सामग्रियों को प्रदर्शित करना चाहिए क्योंकि ऐसे समय बालकों में वस्तुओं को सीखने या जानने की आन्तरिक जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अध्यापिका को इस बात को भी जानना चाहिए कि कौन सी वस्तु ऐसी है जो कि बालकों के सामर्थ्य के बाहर है तथा कौन सी वस्तु अत्यन्त सरल है तथा इसी के अनुसार उन वस्तुओं को बालकों को प्रयोग के लिए देना चाहिए। उसे यह विचार न करना चाहिए कि वह बालकों को कपड़े पहिनाने, नहलाने तथा खाना खिलाने के लिए कोई नौकरानी नियुक्त की गई है वरन् उसे उनमें स्वाश्रयिता की भावना को विकसित करने में सहायता प्रदान करनी चाहिये। फिर भी उसे इस बात की कड़ी निगरानी रखनी चाहिए कि बालक वस्तुओं को क्षति पहुँचाने, बिगाड़ने अथवा दूसरों से वस्तुओं को छीनने का मौका तो नहीं पा रहा है। उसे बालकों पर ऐसे नियम भी लागू करने चाहिए जिस पर वाह्य अनुशासन का संगठन आधारित है। यह नियम यद्यपि अत्यन्त सरल है किन्तु शान्तिपूर्ण कार्य सम्पादित करने के लिए पर्याप्त है।

फ्रोबेल तथा मॉन्टेसरी

फ्रोबेल तथा मॉन्टेसरी के सिद्धान्तों तथा विधियों का यदि हम अत्यन्त समीपता से तुलनात्मक अध्ययन करें तो हम दोनों में बहुत अधिक समानता पाएँगे। दोनों ने ही शिशु शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया है; तथा दोनों शिक्षाविदों ने बालकों के क्रियाशील रहने, वातावरण की खोज करने तथा प्रत्येक अनुसन्धान एवम् रचनात्मक कार्य के द्वारा अपनी आन्तरिक शक्तियों को विकसित करने के अधिकारों की रक्षा की है। दोनों ने स्वतंत्र क्रिया, लयपूर्ण अभ्यास तथा पुट्ठों और अंगों के नियंत्रण पर बल दिया है; किन्तु जहाँ फ्रोबेल

इसके लिए काल्पनिक एवम् सामाजिक विषय वस्तु से युक्त सामूहिक खेलों का सहारा लेता है वहाँ मॉन्टेसरी ऐसे विशेष अभ्यासों पर बल देती है जिससे कि विभिन्न शारीरिक कार्यों से व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त हो सके।

फ्रोबेल एवम् मॉन्टेसरी बालकों की ज्ञानेंद्रियों को शिक्षा की आवश्यकता पर एक मत हैं; किन्तु जहाँ तक इस प्रशिक्षण का सम्बन्ध मॉन्टेसरी से है, उसने फ्रोबेल से अधिक विस्तृत एवम् सीधे प्रशिक्षण की योजना को प्रस्तुत किया है। शिक्षा-यंत्रों (डाइडेक्टिक ऐपरेटस) के माध्यम से मॉन्टेसरी ने ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण के लिए एक अत्यन्त व्यापक एवम् वैज्ञानिक योजना बनाई है। फ्रोबेल के "उपहार" भी, जो कि बालकों के अधिक व्यापक एवम् रचनात्मक उपयोग के लिए निर्मित किए गए हैं, बालकों के ज्ञानेंद्रियों के शिक्षण में बहुत अधिक सहायता पहुँचाते हैं। फ्रोबेल के उपहारों का वास्तविक उद्देश्य असफल हो गया है क्योंकि इसके पीछे बहुत अधिक आध्यात्मिक एवम् प्रतीकात्मकता की भावना निहित थी। सामाजिक प्रशिक्षण के लिए प्रकट किए गए विचारों का जहाँ तक सम्बन्ध है, दोनों विधियों में बहुत अधिक समानता पाई जाती है। एक ओर जहाँ इसका बहुत व्यापक रूप हम फ्रोबेल के किंडरगार्टेन में पाते हैं तो दूसरी ओर मॉन्टेसरी विधि में बालक अधिकतर वास्तविक सामाजिक कार्यों में व्यस्त रहते हैं, उदाहरणार्थ भोजन परोसना, कमरा साफ करना तथा कुर्सी मेज़ को यथास्थान रखना, बागों में कार्य करना आदि। अतएव मॉन्टेसरी का कार्यक्रम सीधे सामाजिक अनुभवों से सम्बन्ध रखता है। दोनों ही विधियों में अध्यापक का कार्य बालकों के कार्यों में हस्तक्षेप करना या आज्ञा देना नहीं है वरन् उनका कार्य बालकों की निगरानी रखना, प्रोत्साहन देना, शक्तियों को उभारना तथा मार्ग निर्देशन करना है।

समीक्षा

(१) यद्यपि मॉन्टेसरी ने बालकों के लिए पूर्ण स्वतंत्रता की मांग की है किन्तु उसने बालकों के अभ्यासों को व्यवस्थित करने के लिए कार्यों के चुनाव पर प्रतिबन्ध लगा दिया है।

(२) उसने बालकों के लिए ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के महत्त्व पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है। निःसन्देह ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा बहुत उपयोगी है किन्तु एक मात्र ज्ञानेन्द्रियों के लिए ही ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा देना कुछ माने नहीं रखता। यह भी सन्देहास्पद विषय है कि क्या एक क्षेत्र की ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा का परिणाम अन्य क्षेत्रों में सफलतापूर्वक स्थानान्तरित किया जा सकता है ?

(३) विकास की एकता पर बिना विचार किए हुए मॉन्टेसरी ने पृथक् रूप से ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण का परिपोषण किया है।

(४) यह भी सन्देहास्पद है कि उसकी विधि असामान्य बालकों के समान ही सामान्य बालकों के लिए भी उपयुक्त होगा अथवा नहीं। शिक्षा-यंत्र सम्बन्धी अभ्यास बुद्धिमान बालक के लिए अत्यन्त सरल है तथा उनमें उसकी रुचि बहुत शीघ्र ही समाप्त हो जाती है।

(५) मॉन्टेसरी ने बालकों की कल्पना उत्तेजित करने के लिए परियों की कहानियों, काल्पनिक कथाओं तथा अनुमानों की सिफारिश बिल्कुल नहीं की है। उसका यह मत था कि इससे बालकों में कल्पना में रहने की प्रवृत्ति जागृत होती है तथा यह बालकों को वास्तविक जगत में अपने को स्थित करने में बाधा पहुँचाता है। परियों की कहानियों इत्यादि के पक्ष की बात यह है कि इससे वास्तव में बालक में कल्पना उत्तेजित होती है। यह मानव की

साहित्यिक उत्तराधिकार को भी स्थिर एवम् विकसित करता है अतएव उनका जानना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(६) मॉन्टेसरी विधि की भाषा की शिक्षा पर एक आपत्ति यह की गई है कि मॉन्टेसरी ने बालकों की अत्यन्त प्राथमिक स्थिति में ही व्याकरण को पढ़ाने की सिफारिश की है। वास्तविकता तो यह है कि बालकों को व्याकरण का ज्ञान उसी समय कराना चाहिए जब कि वे भाषा में थोड़ा बहुत अधिकार प्राप्त कर लें। इसी प्रकार रेखागणित के अध्ययन में भी मॉन्टेसरी बालकों के मस्तिष्क पर भारी बोझ लादना चाहती है।

(७) आज की शिक्षा में जिस सामाजिक भावना की प्रधानता है उसकी मॉन्टेसरी विधि में कमी है। फ्रोबेल ने जिन खेलों एवम् कार्यों का वर्णन अपनी शिक्षण विधि में किया है, उनसे बालकों में सामाजिक भावना का विकास होता है, किन्तु इसका नितान्त अभाव मॉन्टेसरी विधि में पाया जाता है। इसके साथ ही उसके द्वारा प्रतिपादित शिक्षण विधि में यह बात भी स्पष्ट नहीं हो पाई है कि वह शिशुओं के लिए 'साथ साथ सीखने' की बात को स्वीकार करती है अथवा नहीं।

(८) मॉन्टेसरी विधि पर आधारित शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करना आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार की संस्था में व्यय अधिक होता है। इसकी सामग्रियाँ एवम् शिक्षा-यंत्र बहुत मँहगे होते हैं। अतएव सामान्य आर्थिक स्तर के बालकों के लिए मॉन्टेसरी शिक्षालय में शिक्षा प्राप्त करना बहुत ही कठिन है।

(९) मॉन्टेसरी के विभिन्न शिक्षा-यंत्र तथा सामग्री भारतीय वातावरण के उपयुक्त नहीं हैं।

(१०) इस विधि के लिए विशेषतया दक्ष एवम् प्रशिक्षित अध्यापिकाओं की आवश्यकता होती है। ये अध्यापिकाएँ मॉन्टेसरी विधि में विशेष दक्षता प्राप्त करती हैं। खेद इस बात का है कि इस

प्रकार की पूर्ण योग्य अध्यापिकाएँ पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं हैं।

(११) मॉन्टेसरी विधि में बालकों की भावी शिक्षा का कोई भी प्रबन्ध नहीं है। मॉन्टेसरी शिक्षा केवल ६ वर्ष तक के बालकों को दी जाती है। इस विद्यालय से शिक्षा प्राप्त बालक ऐसे सामान्य विद्यालयों में प्रवेश लेते हैं जो कि नियमों एवम् आदेशों की जंजीर से जकड़े रहते हैं। ऐसी स्थिति में बालक के व्यवस्थापन की समस्या अत्यन्त विकट हो जाती है।

मॉन्टेसरी का योगदान तथा प्रभाव

मॉन्टेसरी की मुख्य देन यह है कि उसने एक ऐसी विधि को प्रस्तावित किया है जो कि बालकों की शारीरिक एवम् मानसिक शक्तियों को शिक्षित करती है। मॉन्टेसरी की विधि अन्य प्राचीन विधियों के विपरीत शाब्दिक ज्ञान मात्र पर बल देने वाली विधि नहीं है। यह एक ऐसी शिक्षा है जो कि वस्तुओं पर आधारित है तथा वस्तुओं के द्वारा दी जाती है। उसकी महत्ता इस बात में भी है कि उसने ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के लिए शिक्षा-यन्त्रों (डाइडेक्टिक ऐपरेटस) को प्रस्तुत किया है। इन यंत्रों से बालकों में वस्तुओं के निरीक्षण तथा खोज की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। उसकी विधि की एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि उसने वास्तविक जीवन के अभ्यासों की सिफारिश की है। इससे बालक सामाजिक जीवन के योग्य हो जाते हैं। इस विधि में विद्यालय के पाठ्य-विषयों का विशेष रूपेण लिखना, तथा अंकगणित की अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में ही अध्यापन की सफल योजना प्रतिपादित की गई है। इस विधि की सबसे महत्वपूर्ण बात है शिक्षण का वैयक्तीकरण।

मेरिया मॉन्टेसरी की शिक्षण सिद्धान्तों तथा विधि का अत्यन्त सर्वव्यापक प्रभाव पड़ा है। संसार में ऐसे स्थान बहुत कम हैं जहाँ पर मॉन्टेसरी विद्यालय स्थापित न हुए हों। भारतवर्ष में इस शिक्षा का

अति व्यापक प्रभाव इस बात से जाना जा सकता है कि इस देश के प्रत्येक कोने में मॉन्टेसरी विद्यालय स्थापित हैं। शिशु एवम् प्रारम्भिक शिक्षा के लिए मॉन्टेसरी विधि की महान आवश्यकता महसूस की गई है। अधिकतर प्रगतिशील शिशु विद्यालयों ने मॉन्टेसरी विधि की मुख्य भावना को अपना लिया है।

भारत में मॉन्टेसरी विधि की उपादेयता

पाश्चात्य देशों में जहाँ पर मॉन्टेसरी प्रणाली का प्रयोग हुआ है, उन देशों के वातावरण में तथा भारतवर्ष के वातावरण में महान अन्तर है। सामाजिक एवम् आर्थिक स्थिति में पर्याप्त विभिन्नता है। अतएव यह आवश्यक है कि हमें भारतीय स्थितियों के अनुकूल इस विधि को स्वीकार करना होगा। अपने मौलिक रूप में तो मॉन्टेसरी शिक्षा अत्यन्त महँगी शिक्षा है। केवल धनी व्यक्ति ही अपने बालकों को इस प्रणाली के द्वारा शिक्षा दिला सकते हैं। इसके अतिरिक्त इस विधि के शिक्षा-यंत्र तथा सामग्रियाँ अत्यन्त महँगी हैं और भारत में सरलता से उपलब्ध नहीं हैं तथा इस देश के उपयुक्त भी नहीं हैं। निर्धन बालकों को भी इस प्रणाली द्वारा शिक्षा देने के लिये इसे आर्थिक दृष्टि से सस्ता बनाना होगा। दूसरी बात यह है कि हमें ऐसे शिक्षा-यन्त्रों और सामग्रियों का उपयोग करना होगा जो कि इस देश में सरलता से उपलब्ध हो सकें तथा सस्ते हों जिससे निर्धन बालक भी उनका उपयोग कर सकें। जहाँ तक विधि में प्रतिपादित व्यावहारिक जीवन के अभ्यासों का सम्बन्ध है हम उसका परिवर्तन अपने देश की आवश्यकताओं और सुविधाओं के अनुसार कर सकते हैं, उदाहरण के लिये मेज पर कांटा-चम्मच से भोजन करने के कार्य को भारतीय ढंग से भोजन करने की परम्परा में परिवर्तित किया जा सकता है। अतएव इस क्षेत्र में अत्यन्त व्यापक खोज एवम् प्रयोग की आवश्यकता है।



"शिक्षा भावी जीवन की तैयारी नहीं है, बल्कि जीवन की एक प्रक्रिया है।"

—जॉन डीवी

अध्याय—७

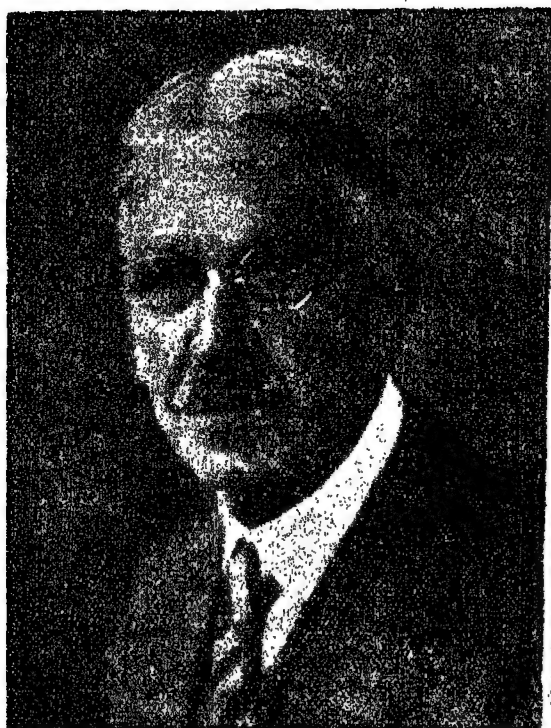
जॉन डीवी

(१८५९—१९५२)

भूमिका

जॉन डीवी अमेरिका का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक एवम् शिक्षा-विचारक था। कई लोगों ने उसका सम्मान 'नवीन विश्व का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक-विचारक' के रूप में किया है। जॉन डीवी के अतिरिक्त अन्य किसी भी विचारक ने शिक्षा सम्बन्धी विषय पर इतनी अधिक गहराई से विचार नहीं किया है और न किसी का इतना अधिक व्यापक प्रभाव भी न केवल अमेरिका के विद्यालयों पर वरन् विश्व के अन्य देशों में, पड़ा है। प्रोफेसर बैगल ने डीवी के अमरीका की शिक्षा के नेतृत्व के सम्बन्ध में कहा है कि "शिक्षा सम्बन्धी महान नेतृत्व जिसका सम्पादन उसने चालीस वर्षों से अधिक किया है वह अत्यन्त सम्मान एवम् गरिमापूर्ण है। शिक्षा-सिद्धान्त के क्षेत्र में उसके नेतृत्व ने स्वराष्ट्र की संकुचित सीमा तोड़ कर विश्वव्यापी प्रभाव स्थापित किया है। वह सच्चे मान में विश्व का शिक्षा-नायक था।"

डीवी ने शिक्षा के क्षेत्र में रुढ़िवादिता एवम् सत्ताधारिता का डटकर मुकाबला एवम् विरोध किया। मानव-जीवन की परिवर्तित एवम्



जॉन डीवी (१८५९—१९५२)

परिवर्तनशील स्थितियों के लिए एक उपयुक्त शिक्षा दर्शन का प्रस्तुतीकरण जॉन डीवी ने अन्य विचारकों की अपेक्षा सुन्दर रूप में किया है। उसके प्रयोगात्मक एवम् सैद्धान्तिक कार्यों ने शिक्षा का पुनर्मनोवैज्ञानीकरण एवम् सामाजीकरण किया है तथा उसको एक वैज्ञानिक एवम् औद्योगिक रूप प्रदान किया है। उसने बालक के विद्यालय के क्रियाकलापों को वास्तविक जीवन से सम्बन्धित कर बालक के समक्ष नवीन सामाजिक एवम् औद्योगिक स्थितियों की व्याख्या प्रस्तुत की है। इस प्रकार जॉन डीवी का नाम बाल-केंद्रित विद्यालय के पक्ष को स्वीकार करने में तथा क्रिया द्वारा सीख तथा रुचि को महत्व देने वाले विद्यालय के महत्व को प्रतिपादित करने में समानार्थी रूप में प्रयुक्त हुआ है।

जीवन तथा शिक्षा सम्बन्धी कार्य

जॉन डीवी का जन्म वारमॉण्ट के बर्लिङ्गटन में सन् १८५६ में हुआ था। उसका पिता आर्चिबाल्ड डीवी गाँव का दुकानदार था तथा माता लूसिना रिच दृढ़ एवम् आशावादी स्त्री थी। जॉन डीवी ने पारिवारिक परम्परा को तोड़ कर कालिज की शिक्षा प्राप्त की। इसका एकमात्र कारण माता का प्रभाव ही था। शिक्षा सिद्धान्त के निर्माण में डीवी की बाल्यावस्था की परिस्थितियों ने महान् योगदान दिया है। प्रारम्भिक जीवन के अनुभवों ने उसके लिए निम्नलिखित विचारों की स्थापना की है :—(१) परम्परावादी स्कूल में शिक्षा देने की प्रणाली नितान्त प्रभावहीन तथा व्यर्थ होती है। (२) प्रतिदिन के जीवन से मानव का सम्पर्क होने से उसके लिये अपरिमित, प्राकृतिक तथा गतिशील "सीखने की अनेक स्थितियाँ" उत्पन्न होती हैं।

डीवी ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपनी जन्मभूमि के विद्यालयों में प्राप्त की। सन् १८७६ ई० में उसने 'वार्मोंट विश्वविद्यालय' से बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। एक वर्ष तक और दर्शन का अध्ययन करने

के उपरान्त तथा थोड़े समय तक विद्यालय में पढ़ाने के पश्चात् उसने जॉन हापकिन्स विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। यहाँ वह ख्याति प्राप्त विद्वानों के सम्पर्क में आया, जिन्होंने उसके दर्शन एवम् शिक्षा सिद्धान्तों के विकास पर अपना अत्यन्त स्वस्थ प्रभाव डाला। उसने मनोविज्ञान का अध्ययन जी० स्टैनली हॉल से, इतिहास का अध्ययन हारबार्ट बी० एडेम्स से तथा दर्शनशास्त्र का अध्ययन जार्ज एस मॉरिस तथा चार्ल्स एस० पीयर्स से किया। दो वर्षों के खोजपूर्ण अध्ययन के उपरांत वह जॉन हापकिन्स विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० की उपाधि से सम्मानित किया गया।

अध्ययन काल समाप्त करने के पश्चात् उसने अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उसने मिनेसोटा विश्वविद्यालय में सन् १८८८ ई० से १८८९ तक अध्यापन का कार्य किया तत्पश्चात् सन् १८८९ ई० से १८९४ तक मिशीगन विश्वविद्यालय में अध्यापक रहा। इस स्थान में उसने अपने दर्शन विषय पर विद्वतापूर्ण व्याख्यान देने के कारण काफी ख्याति प्राप्त की। ३५ वर्ष की अवस्था में ही सन् १८९४ में वह शिकागो विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग के अध्यक्ष पद पर विभूषित होने के लिये आमन्त्रित किया गया। सन् १८९६ ई० में जब कि डीवी शिकागो विश्वविद्यालय से सम्बन्धित था उसने अपने शिक्षा सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणित करने के लिए एक छोटे से प्रयोगात्मक विद्यालय की स्थापना की।

यह प्रयोगात्मक विद्यालय, जो कि अपने नाम के अनुसार ही सार्थक था, शिक्षा सिद्धान्तों के परीक्षण का केन्द्र था। यह एक ऐसा स्थल था जहाँ सिद्धान्तों एवम् विचारों का प्रदर्शन होता था, उनका परीक्षण किया जाता था, उन पर सम्यक् आलोचनाएँ होती थीं तथा उनको परिचालित किया जाता था और नवीन सत्यों की खोज होती थी। इस विद्यालय में डीवी ने अध्यापन एवम् सीखने के अन्य प्राकृतिक उपायों की खोज की स्थिति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। चार

से चौदह वर्ष की भिन्न अवस्थाओं के बालक इस विद्यालय में आठ या दस की संख्या में छोटे-छोटे वर्गों में विभाजित कर दिए जाते थे। बालकों के श्रेणी विभाजन की कोई कड़ी योजना डीवी ने नहीं अपनाई। अध्यापकगण सदा इस बात का पता लगाने के लिए सतर्क रहते थे कि विद्यालय तथा जातीय जीवन की खाँई को किस प्रकार पाटा जाय। बालकों की शिक्षा के लिए भिन्न-भिन्न तथा उपयोगी विषयों को सम्मिलित करने का उपाय भी सदैव अध्यापकगण सोचा करते थे। डीवी ने इस ओर संकेत किया है कि उसके विद्यालय ने फ्रोबेल द्वारा प्रथम व्यक्त सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणित करने की चेष्टा की। वे सिद्धान्त निम्नलिखित थे-(१) विद्यालय का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वह बालकों को पारस्परिक सहयोग एवम् सहायतापूर्ण जीवन के मध्य प्रशिक्षित करे। (२) शिक्षा सम्बन्धी क्रिया-कलापों की प्रारम्भिक जड़ बाह्यवस्तुओं के प्रस्तुतीकरण एवम् प्रयोग में न होकर बालक के कार्यों तथा उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों में निहित है। (३) इन क्रिया-कलापों को संगठित करने में वृहद् प्रौढ़ समाज के कार्यों को भी सन्निहित कर लेना चाहिए क्योंकि बालक अंत में उसी समाज में प्रवेश करेगा। इस विद्यालय का वर्णन करने वाली छोटी पुस्तक 'दी स्कूल एण्ड सोसाइटी' ही वह पहली प्रकाशित पुस्तक थी जो अमेरिका के अध्यापकों के समक्ष उपस्थित हुई और इस प्रकार डीवी ने राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त की।

१९०४ ई० में वह कोलम्बिया विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त हुआ। इस सम्मानित पद पर उसने अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया। इस विश्वविद्यालय का वह एक लब्ध-प्रतिष्ठ प्रोफेसर था। उसकी प्रसिद्धि एक श्रेष्ठ दार्शनिक तथा शिक्षा-सुधारक के रूप में सम्पूर्ण संसार में शीघ्र ही फैल गयी। उपरोक्त विश्वविद्यालय में अपने प्रवास काल में डीवी ने न केवल विस्तृत रूप में रचनात्मक कार्य किया तथा आगे भी खोज-कार्य आरम्भ रक्खा

वरन् उसने समय-समय पर शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रमों एवम् आयोगों में विदेशों में भाग लेने में भी अपने को व्यस्त रखा। उसने अपने सिद्धान्तों के विस्तार को भी जारी रखा। सुदूर पूर्व के देशों ने भी उसका नेतृत्व स्वीकार किया है। सन् १६१६ ई० में वह जापान के टोकियो विश्वविद्यालय द्वारा दर्शनशास्त्र एवम् शिक्षा विषय पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया। इसके पश्चात् चीन में पेकिंग विश्वविद्यालय ने भी उसको निमंत्रित किया। यहाँ उसने दो वर्षों तक व्याख्यान दिया। टर्किश सरकार ने अपनी विद्यालय-व्यवस्था को पुर्नसगठित करने के लिए डीवी से प्रार्थना की। इसी प्रकार की प्रार्थना उसके पास रूस, मेक्सिको तथा टर्की द्वारा भी भेजी गई थी। पेस्टालॉजी के पश्चात् कोई भी ऐसा आधुनिक शिक्षा-विचारक नहीं हुआ जिसका इतना अधिक सम्मान अपने देश में तथा सम्पूर्ण विश्व में हुआ हो। सन् १६५२ मे यह महान् शिक्षा शास्त्री एवम् दार्शनिक ६२ वर्ष की अवस्था में स्वर्ग सिधार गया।

जॉन डीवी एक प्रतिभावान एवम् उर्वर लेखक था। सन् १८६६ ई० से लेकर १६३८ के लम्बे समय में उसने जिन बहुसंख्यक पुस्तकों, लेखों एवम् व्याख्यानों को प्रकाशित किया है उसमें उसने अपने शिक्षा दर्शन की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है तथा शिक्षा, विद्यालय, पाठ्यक्रम एवम् शिक्षण विधि के वास्तविक अर्थों पर विशेष बल दिया है। उसकी निम्नलिखित पुस्तकें अत्यन्त महत्वपूर्ण एवम् सर्वप्रसिद्ध हैं:—

(१) 'दी स्कूल एण्ड सोसाइटी' (१८६६)
(२) 'दि चाइल्ड एण्ड दि करीकुलम' (१६०२)
(३) 'हाऊ वी थिन्क' (१६१०)
(४) 'इन्टरेस्ट एण्ड एफर्ट इन एजूकेशन' (१६१३)
(५) 'स्कूल्स आफ टुमारो' (१६१५)
(६) 'डेमोक्रेसी एण्ड एजूकेशन' (१६१६)
(७) 'रिकान्स्ट्रक्शन इन फिलासफी' (१६२०)

तथा

(८) 'इक्सपीरियन्स एण्ड एजूकेशन' (१९३८)

डीवी का 'डेमोक्रेसी एण्ड एजूकेशन' कदाचित सर्वश्रेष्ठ शिक्षा सम्बन्धी ग्रन्थ है जिसका अनुवाद विश्व की अनेक भाषाओं में हुआ है।

डीवी की दार्शनिक विचारधारा

डीवी एक महान् शिक्षाशास्त्री था क्योंकि वह एक महान् दार्शनिक था। अतएव उसके शिक्षा सम्बन्धी विचारों एवम् सिद्धान्तों को समझने के लिए हमें उसके मूलभूत दार्शनिक विचारों को भी समझ लेना होगा। डीवी के दर्शन का लगातार संशोधन होता रहा। अपने शास्त्रीय जीवन के आरंभ में अपने दर्शनशास्त्र के अध्यापक जॉर्ज एस० मारिस के प्रभाव के फलस्वरूप डीवी ने हीगेल की दार्शनिक विचारधारा को स्वीकार किया[1]। तत्पश्चात् वह डारविन से प्रभावित हुआ तथा शनैः शनैः उसने डारविन के 'अनुकूलन' तथा 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' के सिद्धान्त से युक्त प्रकृतिवाद के पक्ष में आदर्शवाद को त्याग दिया। उसने इस समय अपने दर्शन का नामकरण 'प्रयोगात्मक आदर्शवाद' किया। इसके पश्चात् वह विलियम जेम्स तथा उसके प्रयोजनवादी दर्शन (प्रैगमेटिक फिलासफी) से बहुत अधिक प्रभावित हुआ और अन्त में वह 'निमित्तवादी' (इन्स्ट्रूमेण्टलिस्ट) या प्रयोगवादी (एक्सपेरिमेण्टलिस्ट) बन गया। वह 'निमित्तवादी' नाम से पुकारा गया है क्योंकि वह कहता है कि विचार, ज्ञान, भावनाएँ, सिद्धान्त आदि साध्य न होकर साधन या निमित्त हैं जिसके द्वारा सभी प्रकार की उच्चता

डीवी के दर्शन का विकास

---

१ पाश्चात्य आदर्शवाद प्रमुख रूप से हीगेल के दार्शनिक सिद्धान्तों की उपज है।

प्राप्त की जा सकती है तथा जीवन का उद्देश्य भी प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य, समाज तथा प्रकृति सम्बन्धी डीवी के वृहद् दृष्टिकोण पर विचार करते हुए हमारे लिए यह उचित नहीं है कि हम उसके दर्शन का वर्गीकरण या नामकरण संकीर्ण सीमाओं के भीतर करें।

दर्शन का मूलोद्गम समाज है

अपनी रचनाओं [1] द्वारा डीवी ने यह सलाह दी है कि परम्परावादी दार्शनिक समस्याएँ पूर्णतया समय के अनुकूल नहीं हैं इसलिए उसने हमारे दार्शनिक विचारों को पुनः बदलने की माँग की। उसका यह मत था कि जिस प्रयोगात्मक स्थिति ने 'औद्योगिक विज्ञान' के क्षेत्र को परिवर्तित कर दिया है, वही दर्शन के क्षेत्र में मूल्यों को स्थानान्तरित कर सकती है। उसका वह विश्वास था कि दर्शनशास्त्र का एक व्यावहारिक उद्देश्य होता है तथा जब कभी इस पर गम्भीरता पूर्वक अध्ययन किया जाता है तो "एक ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति होती है जो जीवन के कार्यों पर प्रभाव डालता है।" अपने इस तर्क के आधार पर उसने अपने पुस्तक 'डेमाक्रेसी एण्ड एजूकेशन' में घोषित किया है कि दर्शनशास्त्र का सर्वाधिक गहन परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है: "अपनी सामान्य अवस्थाओं में शिक्षा सिद्धान्त ही दर्शन कहलाता है।" यह डीवी का एक दृढ़ तर्क था कि दर्शन का मूल सूक्ष्म विचारों के वातावरण में नहीं होता वरन् इसका मूल उद्गम समाज है तथा इसका एक सामाजिक कार्य भी है। यह पूर्व निर्धारित सत्य की प्रकृति पर विचार नहीं करता वरन् यह एक ऐसी वस्तु है जो जीवन का निर्माण करता है, उसका प्रतिबिम्बित करता है और जीवन की बिभिन्न व्यवहारिक एवम सामाजिक समस्याओं को हल भी करता है। यह सामाजिक ग्रंथियों, विशेष रूपेण जो आधुनिक समाज की तीन

---

१ विस्तृत रूप में उसके दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा उसके 'रिकांस्ट्रक्शन इन फिलासफी' नामक पुस्तक में हुई है।

प्रमुख शक्तियों यथा प्रजातन्त्र, उद्योग तथा विज्ञान के पारस्परिक संपर्क से निर्मित होती हैं उनका अध्ययन करता है।

डीवी का यह विश्वास था कि इस विश्व में जिसमें हम निवास कर रहे हैं वह स्थिर एवम् बना बनाया नहीं है वरन् यह एक गतिशील एवम् परिवर्तनशील विश्व है। इस विश्व में घटनाओं का पूर्वनिश्चिय पूर्वसम्पन्न भौतिक या आध्यात्मिक शक्तियों द्वारा नहीं होता। अतएव हम पूर्वनिश्चित सिद्धान्तों, अन्तिम सीमाओं, निश्चित मूल्यों अथवा स्तरों का निर्माण नहीं कर सकते। डीवी का यह मत था कि अनन्त सार्वभौम सत्य के सम्बन्ध में सुनिर्मित धारणा निश्चित करना न केवल असम्भव है वरन् व्यर्थ भी है। अपने इस दृढ़ विश्वास के कारण उसे सत्य की प्रकृति को निश्चित करने में कठिनाई का सामना करना पड़ा। इसके विपरीत आदर्शवादियों का यह विचार है कि आध्यात्मिक मूल्य नाशवान नहीं है, अनन्त सत्यों में परिवर्तन नहीं होता तथा वास्तविक सौन्दर्य कभी भी नहीं कुम्हलाता।

मूल्य निश्चित नहीं हैं; वरन् वे उत्पन्न किए जाते हैं

डीवी के अनुसार जीवन के मूल्य समय स्थान एवम् व्यक्ति के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। जीवन के इन मूल्यों को मनुष्य अपनी रचनात्मक शक्तियों एवम् बुद्धि के सहयोग से निर्मित एवम् पुनःनिर्मित करता है। मूल्यों के निर्माण में सफलता का निश्चय उन कार्यों के परिणाम पर होता है जिनकी ओर विचार उन्मुख होते हैं। यदि विचार पूर्ण, स्वस्थ एवम् अच्छे होते हैं तो वे सत्य है परन्तु यदि वे कार्य रूप के परिणित होते समय भ्रम, अनिश्चय एवम् बुराई आदि की वृद्धि करते हैं तो वे अवास्तविक होते हैं। इस प्रकार डीवी के अनुसार सत्य केवल व्यक्ति का अनुभव मात्र ही है। अनुभव के द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती है तथा सत्य का आगमन होता है।

डीवी ने व्यवहार को सिद्धान्त से अधिक, प्रयोगात्मक खोज को

भावना एवम् ख्याल से अधिक तथा क्रिया को विचार से अधिक महत्व-

ज्ञान का विकास क्रिया से होता है। ज्ञान प्राप्ति की विधि प्रयोगात्मक है।

शाली माना है। उसका यह विश्वास था कि ज्ञान को क्रिया एवम् कार्यव्यापार से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि ज्ञान का निर्माण कार्यों द्वारा ही होता है। केवल क्रिया द्वारा ही ज्ञान को अर्जित किया जा सकता है। इस प्रकार ज्ञान का कारण क्रिया होता है तथा ज्ञान क्रिया की एक गौण उपज है। ज्ञान को अर्जित करने की विधि प्रयोगात्मक है। डीवी के मत से यही जानने की विधि है। 'हाऊ वी थिन्क' नामक अपनी पुस्तक में डीवी ने यह व्यक्त किया है कि प्रभावोत्पादक एवम् पूर्ण विचार उसी समय सम्भव हो सकता है जब कि किसी भी रूप में प्रयोगात्मक विधि का पालन किया जाय। डीवी के इस विषय के विवाद ने उसके दर्शन का नाम 'प्रयोगवादी' अभिहित किया है। डीवी की यह धारणा अपर्याप्त थी क्योंकि ज्ञान केवल क्रिया मात्र पर निर्भर नहीं रहता। विचार अथवा विशुद्ध बौद्धिक अभ्यास भी ज्ञान की अभिवृद्धि करता है।

अपनी पुस्तक 'हाउ वी थिन्क' में डीवी ने मस्तिष्क के सोचने की प्रक्रिया की स्थितियों की व्याख्या प्रस्तुत की है। उसका विचार था कि

सोचने की प्रक्रिया

जब हम किसी भी चीज़ को सोचने की कोशिश करते हैं तब उसको सोच लेते हैं। सोचने की क्रिया किसी रिक्त स्थान में सम्पादित नहीं होती। इसके लिए तो कुछ न कुछ प्रेरणात्मक वस्तुओं का होना नितान्त आवश्यक है। विचारों का जन्म परेशानियों, बाधाओं अथवा समस्याओं के मध्य होता है। प्रत्येक विचार का आरम्भ समस्याओं के मध्य होता है तथा जब वह पूर्ण हो जाता है तो उसका अवसान किसी समाधान के रूप में हो जाता है। विचारों के आरम्भ एवम् अवसान की इन दो सीमाओं के मध्य की पाँच तार्किक स्थितियों का वर्णन डीवी ने किया है। ये स्थितियाँ पृष्ट १६३ पर दी हैं :—

(१) समस्या अथवा कठिनाई की चेतनता।
(२) मानसिक खोज, स्थिति की व्याख्या तथा मुख्य वस्तु की गवेषणा।
(३) सम्भावित समाधानों का सूचीकरण।
(४) प्रत्येक सुझाये गए समाधान के सन्निहित अर्थों को सोचना तथा अति योग्य समाधान को प्रयोग के लिए प्रेषित करना।
(५) पुनर्निरीक्षण तथा प्रयोग से परिणाम की प्राप्ति।

डीवी को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने शिक्षा शास्त्रियों का ध्यान विचार की प्रक्रिया के महत्त्व की ओर दिलाया है। बालक की सीखने, सोचने आदि की शक्ति में डीवी का प्रगाढ़ विश्वास था। उसने इस बात पर बल दिया है कि बालकों को इस प्रकार सोचने के लिए शिक्षित करना चाहिए।

डीवी का शिक्षा सिद्धान्त

डीवी ने शिक्षा के अर्थ और उद्देश्य, तथा साधन एवम् साध्य से सम्बन्धित कुछ अतीव दुःसाध्य विरोधाभासों का उत्तर देने का प्रयास किया है। भावी जीवन के लिए शिक्षित करने के विचार ने सदैव डीवी के समक्ष एक चुनौती उपस्थिति की है। डीवी ने इस चुनौती का सफलतापूर्वक सामना भी किया है। उसने यह विचार व्यक्त किया है कि शिक्षा वास्तविक और वर्तमान जीवन की एक प्रक्रिया है न कि भावी जीवन की किसी प्रकार की तैयारी। डीवी कहता है कि शिक्षा के सम्बन्ध में स्पेन्सर का विचार अर्थात "शिक्षा जीवन की तैयारी है" उस समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जब यह "अभी और यहाँ" के जीवन से सम्बन्धित हो। बालक वर्तमान में निवास करता है, वह सुदूर भविष्य से रुचि नहीं रखता। अतएव बालक को उन कार्यों के प्रति आज प्रेरित करना जो कि उसके वयस्क जीवन के लिए उपयोगी होगा, नितान्त निरर्थक है। शिक्षक को अपनी दृष्टि

शिक्षा स्वयम् जीवन है वह जीवन की तैयारी नहीं है

सुदूर भविष्य एवम् काल्पनिक अंतिम उत्पादन की ओर न रखनी चाहिए वरन् उसे वर्तमान की ओर तथा बालक जो बढ़ता है, विकसित होता है तथा जो वर्तमान में अपनी शक्तियों का फल प्राप्त करता है, की ओर ध्यान देना चाहिए। बालक अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास किसी स्वतःपूर्ण माप दण्ड के आधार पर नहीं करता वरन् वह तो इनका विकास अपनी स्वयम् की अधिक से अधिक सुविधा, अपनी इच्छाशक्ति एवम् अवसरों को देखकर करता है। चूंकि बालक वर्तमान में ही क्रियाशील रहता है, शिक्षा की प्रक्रिया का साहचर्य जीवन की प्रक्रिया से होना चाहिए। इस प्रकार शिक्षा स्वयम् एक जीवन बन जाता है, वह जीवन की तैयारी नहीं है।

शिक्षा से सम्बन्धित विचारों में डीवी का 'विकास का विचार' अति महत्वपूर्ण है। उसका विचार था कि व्यक्ति के विकास के

विकास ही शिक्षा है

अतिरिक्त शिक्षा का कोई ऐसा सर्वग्राह्य मापदण्ड नहीं है जिससे शिक्षा का माप हो सके। उसने अपने शिक्षा-विचारों को सतत् विकास की रक्षा, पोषण करना तथा दिशासंकेत माना है। उसने ऐसे सतत् विकास की माँग की जिससे और अधिक विकास की अवतारणा हो। इस प्रकार से यदि शिक्षा विकास का ही दूसरा नाम है और विकास का ध्येय और अधिक विकास लाना है तो इससे सिद्ध होता है कि जितनी लम्बी अवधि तक विकास होता रहेगा शिक्षा का भी उतना ही विकास होता जायगा। अतएव मानवीय विकास अथवा शिक्षा का अन्त नहीं है, वह तो अनन्त है। मानवजाति को अधिक विकास एवम् अधिक पूर्णता के लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिए। डीवी का यह विश्वास था कि विकास की इस धारणा में विगत शिक्षा शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित संकीर्ण आदर्शों के अभिलाषित तत्व भी सन्निहित हैं। फिर भी डीवी का यह उद्देश्य अस्पष्ट है क्योंकि विकास का उद्देश्य अथवा दिशा का स्पष्ट रूप से संकेत नहीं मिलता। विकास भिन्न-भिन्न दिशाओं को ग्रहण

कर सकता है अर्थात वह बुराई की ओर या भलाई की ओर उन्मुख हो सकता है। एक चोर का विकास और अच्छे चोर के रूप में हो सकता है किन्तु समाज के लिए यह कल्याणप्रद नहीं है। शिक्षा के उद्देश्य के रूप में विकास से असन्तुष्ट होकर डीवी ने इसके लिए एक अधिक सुन्दर उद्देश्य की स्थापना की है। यह उद्देश्य है "अनुभव का सतत् पुनर्निर्माण।"

डीवी ने शिक्षा की परिभाषा निम्नलिखित दी है "शिक्षा पुनर्निर्माण अथवा अनुभव के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया है जिसका सामाजिक मूल्य व्यक्तिगत योग्यता के माध्यम से बढ़ जाता है।" वातावरण की विषमताओं के मध्य में अपने को लगातार पुर्नस्थापित करने में मनुष्य अपने अनुभवों की अभिवृद्धि करता है। वह अपने अनुभव को पुर्नसंगठित, पुर्नार्निमित करता है एवम् पुनः दुहराता है। डीवी के अनुसार यही अनुभव का पुनर्निर्माण शिक्षा है। अनुभव के सतत् दुहराए जाने की प्रक्रिया के रूप में शिक्षा सदैव आगे की ओर और अधिक दुहराए जाने के लिए एवम् क्रियाशीलता के लिए, अभिमुख होती है। ऐसी स्थिति कभी भी नहीं आ सकती जिसमें अनुभव सम्पन्न न हो सके अथवा सीखना पूर्णरूप से रुक जाय। जब तक मनुष्य अपने को परिवर्तित वातावरण के अनुकूल बनाता जाता है, तब तक वह सीखता जाता है तथा शिक्षा का सतत् विकास भी होता जाता है। अतएव शिक्षा की पूर्णता का कोई साध्य अथवा उसकी कोई अन्तिम सीमा नहीं है। इस दृष्टिकोण से जैसे ही बालक जन्म लेता है वह शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करता है और जीवन पर्यन्त वह शिक्षा के आवरण में ढका रहता है। डाक्टर जॉन डीवी के शिक्षा सिद्धान्त के अनेक विद्यार्थियों को भावी पुनर्निमाण के लिए पुनर्निमाण का प्रयोग तथा कोई निश्चित परम्परा या सुस्थापित वस्तु की अनुपस्थिति ने बहुत अधिक परेशान एवम् चिन्तित किया है। डीवी का प्रजातंत्र सम्बन्धी

शिक्षा अनुभव का सतत् पुनर्निमाण है।

विचार जिसका अध्ययन हम आगे चलकर करेंगे, इस अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले तत्व में कुछ सहयोग देता है। अधिक व्यापक जनतंत्र अर्थात् समूह के प्रत्येक सदस्य द्वारा समूह के कार्यों और हितों में अधिक योग्यता पूर्वक भाग लिया जाना और सभी समूहों द्वारा अन्य वर्गों के कार्यों और हितों में और अधिक भाग लेना ही वस्तुतः डीवी के अनुसार वह पूर्ण लक्ष्य है जो अनुभव के पुनर्निर्माण की दिशा का संकेत करता है।

कुछ लोग डीवी के शिक्षा के सामाजिक विचार को शिक्षा सिद्धान्त के क्षेत्र में उसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण योगदान मानते हैं। उसने

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है।

शिक्षा को एक बहुत आवश्यक सामाजिक प्रक्रिया माना है। रूसो द्वारा प्रतिपादित विचारों के विरोध में डीवी ने कहा है कि व्यक्ति का विकास एकान्त में अथवा केवल प्रकृति से सम्पर्क स्थापित करने में नहीं हो सकता। मनुष्य के विकास की प्राकृतिक स्थितियों में एक आवश्यक तत्व है शेष मानव जाति। वह अपनी शक्तियों का विकास केवल सभ्य जीवन के आधार पर सामाजिक वातावरण में ही कर सकता है। समाज अपने रीतिरिवाजों, संस्थाओं, विचार पद्धतियों तथा क्रियाओं के द्वारा बालक के चरित्र को निर्मित करता है। अनएव बालक को "अन्तर्क्रियाओं एवम् सम्बन्धों की विस्तृत ग्रन्थि के मध्य विचार करते हुए तथा पल्लवित होते हुए नागरिक के रूप में" अध्ययन कराना चाहिए। शिक्षा की दो विभिन्न मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक प्रक्रियाओं में डीवी ने मनोवैज्ञानिक पहलू को आधार माना है। उसका विचार है कि बालक की शिक्षा का आरम्भ बालक की शक्तियों एवम् गुणों की मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि के द्वारा होनी चाहिए। किन्तु बालक की इन शक्तियों का अर्थ उसी समय है जब कि बालक सामाजिक सम्बन्धों में अपने को व्यस्त कर सके। अनएव शिक्षा का प्रारम्भ बालक की शक्तियों, गुणों, आदतों के साथ होना चाहिए किन्तु इनका सामाजिक अर्थ में भी प्रयोग

होना चाहिए। डीवी कहता है "जिस सामाजिक वातावरण में बालक रहता है, उसकी माँग द्वारा बालक की शक्तियों के उभार से ही वास्तविक शिक्षा प्राप्त होती है।"

डीवी ने इस बात की ओर संकेत किया है कि शिक्षा की सामाजिक प्रक्रिया एवम् कार्य का निश्चित अर्थ उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि हम उस प्रकार के समाज की व्याख्या न कर दें जो हमारे विचार में है। डीवी स्वयम् एक "वर्गहीन समाज" में पल्लवित हुआ था। उसने कहा है कि प्रजातंत्र सुन्दर सामाजिक व्यवस्था को उपस्थित करता है। वह इस बात में पूर्ण दृढ़ प्रतिज्ञ था कि वह समाज जो कि अपने सदस्यों को श्रेष्ठ अनुभव प्रदान करता है, अपने कार्यों को प्रजातंत्रीय पद्धति पर संगठित करने के लिए प्रेरित होगा। डीवी फासिस्टवाद एवम साम्यवाद का कट्टर विरोधी था क्योंकि उसका विचार था कि ये रूढ़िवादी सिद्धान्तों और राजनीतिक दल के आगे व्यक्ति को कम महत्व देने पर आधारित हैं। डीवी ने प्रजातंत्र को एक सरकार के अर्थ से अधिक व्यापक अर्थ में व्यक्त किया है। उसके अनुसार "प्रजातन्त्र, सरकार के रूप से कुछ अधिक है। मुख्य रूप से यह सह-जीवन व्यतीत करने का एक ढंग है।" इस सह-जीवन में व्यक्ति का सम्मान होता है, उनके विशेष गुणों का मूल्य होता है, उन्हें अवसर की समानता होती है तथा उन्हें सतत् विकास का मौका प्रदान किया जाता है। डीवी के इस प्रजातंत्रीय आदर्श की आस्था ने उसे जन-शिक्षा के प्रबल प्रचारक की संज्ञा प्रदान की है। वह चाहता था कि प्रत्येक बालक को अपनी शक्तियों के अधिकाधिक विकसित करने का अवसर मिले चाहे वह जिस जाति का हो और उसका पिता चाहे जिस धर्म को मानने वाला हो तथा चाहे जिस व्यवसाय में रत हो।

प्रजातंत्र श्रेष्ठतम सामाजिक व्यवस्था है।

शिक्षा के क्षेत्र में डीवी के योगदानों में 'रुचि एवम् प्रयत्न के

सिद्धान्त' का संकेत करना बहुत आवश्यक है। डीवी ने इस बात का संकेत किया है कि वस्तु में स्वाभाविक रुचि से सब सच्चे प्रयत्न उत्पन्न होते हैं। अतएव बालक की सम्पूर्ण सीख उसके सामान्य अनुभवों से उत्पन्न होनी चाहिए, वह अनुभव या क्रियाशीलता जिसमें बालक की वास्तविक रुचि है। जहाँ पर इस वास्तविक रुचि की कमी हो, उनको पुनः विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी साध्य जिसमें सीखने वाले को वास्तविक रुचि है, से कार्य को सम्बन्धित कर प्रयत्न को भी प्रश्रय देना चाहिए। अतएव क्रियाकलाप का कोई साध्य अथवा उद्देश्य होना चाहिए।

रुचि का सिद्धान्त

विद्यालय का अर्थ

डीवी ने विद्यालय के सिद्धान्त एवम् व्यवहार की व्याख्या अपनी पुस्तक 'स्कूल एण्ड सोसाइटी' में की है। उसने इस अवास्तविक विचार को अस्वीकार कर दिया है कि विद्यालय बालक की विकासात्मक अवस्था के लिए उपयुक्त सुविधा है, अथवा यह एक ऐसा स्थान है जहाँ पर भविष्य के सम्भावित जीवन से अव्यवहारिक एवम् दूरस्थ सम्बन्ध रखने वाले तथ्यों को सीखा जाता है। उसने प्राचीन प्रणाली का घोर विरोध किया जिसमें शिक्षा वस्तुओं के विषय में बातचीत के द्वारा, न कि उनको कार्य रूप में करके दी जाती थी; इसके साथ ही साथ एकसत्तात्मक विधिओं का भी विरोध किया क्योंकि उनसे बालकों में आज्ञापालन, अधानुसरण तथा आधीनता के नकारात्मक गुणों का विकास होता है। डीवी ने इस बात का संकेत किया है कि औद्योगिक युग एवम् नागरिक जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओं के कारण एक नवीन पाठ्यक्रम, शिक्षण की नवीन विधि तथा औद्योगिक जीवन के अनुशासन की आवश्यकता है। विद्यालय के लिये यह आवश्यक है कि वह बालकों के लिये नवीन अनुभवों को सुलभ करे। डीवी ने

परम्परावादी विद्यालयों के लिये दो परिवर्तनों की सिफारिश की है। ये प्रस्तावित परिवर्तन निम्नलिखित है :—

(१) निष्क्रिय रट कर सीखने की विधि का स्थानान्तरण विद्यालय में एक सक्रिय सामूहिक जीवन के द्वारा होना चाहिये।

(२) विद्यालय का निश्चित पारस्परिक सम्बन्ध प्राकृतिक एवम् सामाजिक वातावरण के साथ होना चाहिए।

डीवी के विचार के अनुसार शिक्षा का सम्बन्ध न केवल सीखने से ही है वरन् खेल, निर्माण, उपकरणों का उपयोग, प्रकृति से सम्पर्क, अभिव्यक्ति एवम् क्रियात्मकता से भी है। डीवी के इस सिद्धान्त के अनुसार विद्यालय एक ऐसा स्थान होना चाहिये जहाँ बालक सुनने की अपेक्षा कार्य करते हों, जीवन के कार्यों को करके सीखते हों और सामाजिक संस्थाओं एवम् औद्योगिक प्रक्रिया का अध्ययन करके उनसे परिचित हों तथा उनमें भाग भी लेते हों। डीवी के अनुसार विद्यालय का प्राथमिक कार्य है, "बालक को सहयोगी एवम् पारस्परिक उपयोगी जीवन व्यतीत करना सिखाना तथा उनमें सामाजिक निपुणता का विकास करना।" विद्यालय के विभिन्न कार्यों में भाग लेकर ही इस सामाजिक निपुणता को उत्पन्न किया जा सकता है। विद्यालय को विद्यार्थियों के लिये सहयोगी कार्यों को सुलभ करना चाहिये। इन कार्यों के द्वारा दूसरे विद्यार्थियों से सम्पर्क एवम् सहयोग की भावना उत्पन्न होगी। इस प्रकार के कार्य हैं—भोजन बनाना तथा भोजन परोसना, नाटक लिखना तथा उसको खेलना इत्यादि। सामान्य रूप से हमें डीवी के इस शिक्षा सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहिये कि अच्छी शिक्षा वही है जो प्रजातांत्रिक आदर्श की ओर उन्मुख होती है। किसी भी प्रजातांत्रिक संगठन के अन्तर्गत अच्छी सरकार के निर्माण का उत्तरदायित्व सभी के ऊपर रहता है अतएव विद्यालय को बालक को भावी राजनीतिक जीवन की तैयारी के लिये, बालकों को उत्तरदायित्व का सामना करने के लिये, स्वयम् कार्य करने की शक्ति का विकास

करने के लिये, सामाजिक अन्तर्दृष्टि को जागृत करने के लिये तथा बालकों को प्रत्येक विद्यालय के शासन में बराबर भाग लेने के लिये तैयार करना चाहिये।

डीवी ने विद्यालय को एक ऐसे समुदाय तथा एक ऐसे लघु समाज बनाने के लिए जोर दिया है जिसमें संक्षिप्त रूप में सामाजिक अथवा वास्तविक जीवन की स्थितियों को पुनः प्रकट करने की शक्ति हो। फिर भी डीवी ने वास्तविक जीवन को विद्यालय में लाने के लिए अपना कोई स्पष्ट मत नहीं दिया। उसने कहा है कि वास्तविक जीवन जटिल होता है, अनैतिक होता है तथा प्रत्यक्ष अध्ययन के लिए बहुत अधिक दुर्बोध हो जाता है। शिक्षा को जीवन पर आधारित होना चाहिए किन्तु एक अत्यन्त सरलीकृत, पवित्र तथा संगठित जीवन पर ही। डीवी ने कहा है कि विद्यालय जीवन को गृह जीवन के आधार पर धीरे-धीरे विकसित करना चाहिए। विद्यालय को बालकों के परिवार के उन्हीं क्रियाकलापों को ग्रहण करना चाहिए जिनसे बालक पहले ही भली-भाँति परिचित हो चुका होता है।

पाठ्य-क्रम

स्पेन्सर आदि आधुनिक पाठ्यक्रम निर्माताओं के विचारों के विपरीत डीवी यह प्रकट करता है कि मानवीय क्रियाकलापों का शिक्षा के लिए वर्गीकरण करना असम्भव है, तथा विषयों का क्रम से वर्ग स्थापित करना भी असम्भव है। मानवीय संस्कृति की सुरक्षा के लिए ही प्रौढ़ों द्वारा विभिन्न विषयों का वर्गीकरण किया गया है। डीवी के अनुसार बालक का मस्तिष्क अपने अनुभवों के कोष का विभाजन विभिन्न विषयों के रूप में नहीं करता। पाठ्यक्रम संगठन का सिद्धान्त बालक की निश्चित विकास अवस्था के आधार पर होना चाहिए जिसका केन्द्र उसकी अभिव्यक्तिपूर्ण अथवा रचनात्मक क्रियाकलाप हों। डीवी कहता है कि विषयों के पारस्परिक सम्बन्ध का केन्द्र न तो

विज्ञान, साहित्य और इतिहास है और न भूगोल है वरन् स्वयम् बालक के अपने क्रियाकलाप ही है। सच पूछा जाय तो डीवी ने पूर्व-निश्चित पाठ्यक्रम का पूर्ण विरोध किया है, उसे अयोग्य भी घोषित कर दिया है। उसने अध्यापकों को ऐसे नूतन पाठ्यक्रम को बनाने का कार्य दिया है जो बालकों की आवश्यकताओं के अनुकूल हों। एक निश्चित एवम् अपरिवर्तनशील पाठ्यक्रय की अपेक्षा उसने अविधिक एवम् लचीले पाठ्यक्रम की सिफारिश की है।

डीवी ने परम्परावादी अथवा विषयों पर आधारित पाठ्यक्रम से कोई भी सहानुभूति नहीं प्रदर्शित की है। उसने बालक-प्रधान पाठ्यक्रम को प्रश्रय दिया है क्योंकि उसका विचार है कि "सम्पूर्ण शिक्षा सम्बन्धी क्रियाकलापों की प्रारम्भिक जड़ बाह्य वस्तुओं के प्रयोग एवम् प्रस्तुतीकरण में न होकर बालक के प्रवृत्तिमूलक एवम जन्मजात कार्यों एवम् क्रियाकलापों में है।" डीवी की मुख्य कल्पना यह थी कि स्वयम् जीवन, विशेष व्यवसाय एवम् क्रियाकलाप जो कि मनुष्य की मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तथा जिससे बालक परिवार में परिचित होता है, को ही बालक की शिक्षा के लिए मुख्य अनुभव के रूप में प्रदान करना चाहिए। ये क्रियाकलाप निम्नलिखित हैं—भोजन, आश्रय, वस्त्र, गृह सम्बन्धी अलंकरण तथा उत्पादन, विनिमय, एवम् उपभोग से संबंधित सामग्री। इन क्रियाकलापों ने मानवीय प्राणी एवम समाज के लिए विकास की स्थिति उत्पन्न की है। ये बालक की रुचि के लिए एक उपयुक्त नैसगिक वातावरण भी उपस्थित करते हैं तथा रचनात्मक प्रवृत्ति को भी जागृत करते हैं। अतएव विद्यालय का पाठ्यक्रम इन्ही के आधार पर ही होना चाहिए। डीवी ने इसके अतिरिक्त बालकों की चार प्रवृत्तियों अथवा आधारभूत रुचियों को शिक्षा का आधार माना है। ये हैं, "बातचीत अथवा विचारों का आदान प्रदान, पूँछताछ अथवा वस्तुओं की खोजबीन, वस्तुओं के निर्माण अथवा रचना तथा कलात्मक अभिव्यक्ति में रुचि।" इन बृहद् रूपरेखाओं

को दृष्टिपटल पर रखते हुए डीवी ने प्रथम छः श्रेणियों में अध्ययन के लिए निम्निलिखित विषयों पर बल दिया है :—अंकगणित, संगीत, कला, काष्ठकला, पाकशास्त्र, सिलाई, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, पढ़ना, लिखना तथा बागबानी।

डीवी ने बालक की रचनात्मक क्रियाओं में सहकारी क्रियाकलापों के महत्व पर बल दिया है क्योंकि इस प्रकार के क्रियाकलाप बालक में अपने सहयोगियों से क्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं तथा उनमें सामाजिक गुणों के उन्नयन की भावना उत्पन्न करते हैं। उसने शिक्षा में आध्यात्मिक गुणों को महत्व नहीं दिया है। तो भी वास्तविक रूप में डीवी की शिक्षा पद्धति के अनुसार बालक सौन्दर्यात्मक एवम् नैतिक शिक्षा से पीछे नहीं भागता।

शिक्षण-पद्धति

डीवी ने परम्परावादी शिक्षा-विधि की कड़ी आलोचना की है। उसने पुस्तकीय शिक्षा जिसमें केवल याद करना ही सीखने का लक्ष्य बन गया था, का सख्त विरोध किया है। अध्ययन की इस रूढ़िवादी पद्धति से बालक की मानसिक शक्तियों का विकास नहीं होता था वरन् इससे पुस्तकीय ज्ञान एवम् पुरानी विचारधारा बालक के मस्तिष्क में थोपी जाती थी। डीवी ने कहा है कि आज तो व्यवहार, क्रियाशीलता, करके सीखना, अनुभव के माध्यम से वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना आदि की आवश्यकता है। वास्तविक शिक्षा पुस्तकों से नहीं प्राप्त होती वरन् यह तो क्रिया तथा वास्तविक जीवन के अनुभवों से प्राप्त होती है। बालक किसी दूसरे व्यक्ति के सतत् निर्देशन की अपेक्षा स्वयम् अपनी क्रियाओं से अधिक सीख सकता है। अतएव डीवी ने इस बात पर बल दिया है कि बालक की संपूर्ण सीख बालक की सीधी क्रिया के लिए न होकर उसके कार्यों की उपज होनी चाहिए। डीवी के पूर्व कुछ महान शिक्षाशास्त्रियों मुख्य रूप से फ्रोबेल ने भी वास्तविक

शिक्षा में क्रियाकलापों की अत्यावश्यक प्रकृति के महत्व पर बल दिया था। डीवी ने कहा है कि सभी क्रियाकलाप उद्देश्यपूर्ण होना चाहिए, उनमें कोई हल करने की समस्या भी होनी चाहिए। बालक की शक्तिशाली उद्देश्य एक दृढ़ विचार-धारा, बलवान प्रयत्न, सफलता की महान् सम्भावना, अनुभव का अति प्रभावशाली संगठन तथा सुन्दर सीख हमारे समक्ष उपस्थित करता है।

डब्ल्यू० एच० किलपैट्रिक द्वारा प्रतिपादित योजना पद्धति (प्रजेक्ट पद्धति) डीवी की समस्या विधि की नैसर्गिक उपज है। प्रोजेक्ट पद्धति अध्ययन की प्रक्रिया की अग्रभूमि में एक निश्चित हल करने की समस्या प्रस्तुत करता है। पहले बालक समस्या का सामना करता है। इस समस्या के सफल हल करते ही प्राकृतिक रूप से बालक सीख जाता है। क्रियाकलापों के सम्पूर्ण प्रासङ्गिक ज्ञान पर बालकों को स्वतंत्रतापूर्वक लाभ उठाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। यह विधि बालकों को स्वतंत्रता प्रदान करती है तथा सुप्रवृत्तियों एवम् आदतों यथा कार्यारम्भ की प्रवृत्ति, अपने पर विश्वास, सहयोग आदि का निर्माण करती है जो कि विद्यालय के अध्ययन के द्वारा प्राप्त करना नितांत कठिन है। यद्यपि डीवी ने इस विधि की कुछ सीमाओं की ओर भी हमें सचेत किया है, तथापि उसने इस बात का संकेत किया है कि यह पद्धति प्रभावोत्पादक अध्ययन के लिए एक अति सामान्य ढंग है।

डीवी के पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचारों के अन्तर्गत दूसरा संकेत जो मिलता है वह यह है कि उसने अध्ययन प्रक्रिया की एकता के महत्व पर बल दिया है। इस अध्ययन प्रक्रिया का मूलाधार बालक का क्रियाकलाप तथा अनुभव होगा।

अनुशासन सम्बन्धी विचार

डीवी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को समझने के लिए हमें उसके व्यावहारिक अनुशासन पर किए गये घोर विरोध की प्रशंसा करनी चाहिए। उसने यह अनुभव किया कि अध्यापक द्वारा दिया गया शारी-

रिक दंड तथा तानाशाही नियंत्रण वास्तविक शिक्षा के विकास को रोकता है और बालकों को विद्रोही प्रवृत्ति का बनाता है। इससे अधिक संख्या में विद्यार्थी अध्यापक की इच्छा के कठपुतले बन जाते हैं। उसने इस बात पर बल दिया है कि अध्यापक को कक्षा में आज्ञा देने के लिए कोई श्रेष्ठ अधिकारी के रूप में नहीं वरन् विद्यालय-समाज के एक सामान्य सदस्य के रूप में होना चाहिए। डीवी ने कहा है कि विद्यालय का अनुशासन सीधे अध्यापक की ओर से न होना चाहिए वरन् इसे विद्यालय के सामाजिक वातावरण से उत्पन्न एभ सामूहिक प्रयत्न के रूप में होना चाहिए। डीवी का विचार है कि श्रेष्ठ प्रशिक्षण वही है जिसमें बालक सामूहिक विचारों एवम् कार्यों को एक दूसरे से मिलकर करने के लिए प्रेरित होता है। डीवी ने विद्यालय के अनुशासन संबंधी कठिन समस्या को हल करने के लिए "सामूहिक एवम् सहकारी जीवन" का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।

डीवी इस बात से सहमत हो गया था कि बालकों के पाठ्यक्रम के उद्देश्यपूर्ण क्रियाकलाप बालकों में योग्यता के माध्यम से नैतिक रुचि तथा अन्तर्दृष्टि उत्पन्न करेंगे तथा उनको आत्म-नियन्त्रण और सामाजिक मूल्यों को महत्व प्रदान करने में सहायता प्रदान करेंगे। उसका यह सहज विश्वास था कि यदि बालकों का क्रियाकलाप अर्थपूर्ण हैं, जीवन से सम्बन्धित है, किसी उद्देश्य अथवा लक्ष्य की प्राप्ति की ओर अभिमुख है तथा अन्य बालकों से सहयोग लेकर किया गया है तो किसी भी रूप में अनुशासन की समस्या नहीं उत्पन्न होगी। चुनी हुई क्रियाओं का अनुसरण ही स्वयम् स्व-अनुशासन की वृद्धि करेगा तथा सहकारी प्रयत्न अच्छे सामाजिक गुणों का विकास करेगा। अतएव अध्यापक का यह कर्तव्य है कि वह उपयुक्त वातावरण को निर्मित करे, बालकों को सहकारी प्रयत्न पर आधारित अपनी रुचि के विभिन्न कार्यों के चुनाव में सहायता प्रदान करे तथा उनमें अच्छे सामाजिक गुणों एवम आदतों को उपजाए।

सिद्धान्तों का सार

(१) दर्शनशास्त्र का व्यावहारिक लक्ष्य होता है। यह समाज से उत्पन्न हुआ है तथा इसके सामाजिक कार्य भी हैं।

(२) मस्तिष्क अथवा ज्ञान साध्य नहीं है। यह जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक प्रभावपूर्ण साधन या सामग्री है।

(३) क्रियाओं से ज्ञान का विकास होता है। ज्ञान क्रिया की एक गौण-उपज है।

(४) ज्ञान प्राप्त करने की विधि प्रयोगात्मक है।

(५) मूल्य निश्चित नहीं है; उनका निर्माण किया जाता है।

(६) विचारों का मूलउद्गम कठिनाइयों तथा विघ्नों अथवा समस्या में है। बालकों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सोचने या विचार करने के लिए तैयार करना चाहिए।

(७) शिक्षा जीवन की तैयारी नहीं अपितु स्वयम् जीवन है।

(८) शिक्षा एक विकास है: जब तक विकास की संभावना है तब तक शिक्षा भी चलती है।

(९) शिक्षा अनुभव का सतत् पुनर्निर्माण है।

(१०) शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है।

(११) सामाजिक संगठन का श्रेष्ठतम रूप प्रजातंत्र है।

(१२) विद्यालय को प्रजातांत्रिक समुदाय एवम् समाज का एक लघु रूप होना चाहिए।

(१३) सम्पूर्ण शिक्षा सम्बन्धी कार्यों की जड़ बालक की प्रवृत्तिमूलक नैसर्गिक स्थिति एवम क्रियाकलापों में ढूँढ़ी जा सकती है।

(१४) पाठ्यक्रम का संगठनात्मक सिद्धान्त बालक का अपने निश्चित विकास अवस्था का क्रियाकलाप तथा सामाजिक जीवन होना चाहिए।

(१५) बालक की सभी सीख उसके कार्यों की गौण उपज के रूप में होनी चाहिए।

(१६) विद्यालय का अनुशासन बालकों के सहकारी कार्यों तथा सम्मिलित प्रयत्न के फल-स्वरूप होना चाहिए।

डीवी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल

डीवी हरबार्ट एवम् फ्रोबेल के विचारों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ है यद्यपि कई स्थलों पर उसकी मतविभिन्नता भी है। इन शिक्षा शास्त्रियों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन उनकी विपरीतता एवम् मतैक्य को स्पष्ट रूप से प्रकट कर देगा।

डीवी तथा हरबार्ट—हरबार्ट की शिक्षण विधि एवम् व्यवहार अत्यधिक नियमनिष्ठ होने के कारण ही डीवी ने इन पर अपनी आलोचना प्रस्तुत की है। डीवी की दृष्टि में हरबार्ट का मनोविज्ञान विकासशील, ज्ञानेच्छुक तथा प्रयोगशील बालक का मनोविज्ञान न होकर, निश्चित रूप से एक अध्यापक का मनोविज्ञान है। डीवी के विचार में हरबार्ट का विद्यालय बाल-केन्द्रित तथा प्रजातांत्रिक नहीं है। उसका विद्यालय एक ऐसा स्थल है जहाँ केवल अध्यापक का साम्राज्य छाया रहता है, जो पूर्ण रूपेण अव्यवहारिक बौद्धिकता से ओत प्रोत है, अति कठोर है तथा शासन से पूर्ण है।

जहाँ तक डीवी तथा हरबार्ट के सिद्धान्तों की समानता का संबंध है हम देखते हैं कि दोनों शिक्षाविदों ने शिक्षा में रुचि के महत्व को प्रदर्शित किया है। दोनों ने बालक की व्यक्तिगत विभिन्नता की आवश्यकता की सराहना की है तथा दोनों ने बालकों को पढ़ाने के पूर्व उनका पूर्णरुपेण अध्ययन कर लेने की मान्यता प्रदान की है। अर्थात् दोनों ही शिक्षा देने से पहले बालक की रुचियों तथा शक्तियों के अध्ययन की आवश्यकता पर बल देते हैं। पुनः हमें हरबार्ट के अध्यापन की पंच पद प्रणाली तथा डीवी के विचार की प्रक्रिया के पाँच चरण

में समानता के लक्षण दृष्टिगत होते हैं। हरबार्ट ने अध्यापक के क्रियाकलापों पर अधिक बल दिया है तो डीवी ने बालक को एक क्रियाशील विद्यार्थी के रूप में महत्व दिया है। हरबार्ट का सिद्धान्त इस बात को बताता है कि बालक को किन चीजों का ज्ञान नहीं है जो कि अध्यापक जानता है, तथा डीवी का सिद्धान्त इस को बताता है कि अज्ञात चीज कौन है जिसे बालक स्वयं खोजे। हॉर्नें अपनी 'दि डेमोक्रेटिक फिलासफी आफ एजूकेशन' नामक पुस्तक में कहता है कि "ये दोनों सिद्धान्त पारस्परिक एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों का प्रयोगक्षेत्र भिन्न है। हरबार्ट भाषा, साहित्यिक, ऐतिहासिक तथा विचारात्मक क्षेत्र में प्रभावशाली है तो डीवी हस्तकलाओं तथा विज्ञान के क्षेत्र में। जहाँ पर पुस्तक की विषय सामग्री का अध्यापन कराया जाता है वहाँ हरबार्ट उपयोगी है तथा जहाँ हाथ का कार्य प्रारम्भिक है वहाँ डीवी उपयोगी है।"

डीवी तथा फ्रोबेल—डीवी और फ्रोबेल के विचारों में भी बड़ी समानता है। दोनों ने बालक की निर्माण शक्ति तथा क्रियाकलाप पर बल दिया है; दोनों ने करके सीखने तथा जीवन से सम्बन्धित कार्यों के आगे पुस्तकों को गौण मानने पर जोर दिया है; तथा दोनों ने विद्यालय को एक ऐसा जीवित समाज माना है जहाँ बालक सामाजिक कार्यों में भाग लेता है। डीवी ने फ्रोबेल के विकास के सिद्धान्त जो कि सुप्त शक्तियों को प्रकाशित करने वाला होता है, को अस्वीकार कर दिया है। प्रयोजनवादी (प्रैगमेटिस्ट) होने के कारण डीवी ने फ्रोबेल के रहस्यवाद एवम प्रतीकवाद को स्वीकार नहीं किया है क्योंकि इसका बहुत अधिक अंश दार्शनिक विचारों से युक्त है तथा यह किंडरगार्टेन के व्यावहारिक उपयोग के लिये बिलकुल आवश्यक नहीं है। डीवी फ्रोबेल के आध्यात्मवाद में विश्वास नहीं करता। एक आदर्शवादी होने के कारण फ्रोबेल ने असीम तथा अनन्त की ओर प्रेरित होने वाले विकास के विचार को स्वीकार किया है किन्तु डीवी के दृष्टिकोण में किसी दूरस्थ लक्ष्य की ओर विकसित होना असम्भव है

क्योंकि यह लक्ष्य स्थिर या निश्चित रूप में होगा। डाक्टर जॉन डीवी के अनुसार शिक्षा एक सतत् प्रक्रिया है जिसका कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है।

आलोचना

जॉन डीवी के कुछ मौलिक सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना की गई है। मुख्य आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) आदर्शवादियों[1] ने डीवी की दार्शनिक विचारधारा को बिलकुल अस्वीकार कर दिया है। इस विचार को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया है कि शिक्षा केवल रचनात्मकता है। इसके विपरीत उन्होंने यह मत प्रकट किया है कि यह आंशिक रूप में रचनात्मकता एवम् अनुरूपता (वर्तमान सामाजिक उत्तराधिकार तथा संस्कृति की अनुरूपता) दोनों है।

(२) डीवी स्थिर एवम् अन्तिम मूल्यों तथा लक्ष्यों का विरोध करके इधर-उधर ही भटकता है।

(३) डीवी का सतत् विकास को लक्ष्य मानने वाला 'विकास का सिद्धान्त' तथा और अधिक पुनर्निर्माण को लक्ष्य मानने वाला तथा किसी स्थिर या निश्चित रूप को न मानने वाला 'अनुभव के पुनर्निर्माण का सिद्धान्त' आलोचकों के लिये आलोचना का मुख्य बिन्दु है।

(४) डीवी की यह कल्पना कि विचार समस्या-जनित है तथा सम्पूर्ण ज्ञान का प्रादुर्भाव क्रिया से होता है, न्याय संगत नहीं है। ज्ञान एक मात्र क्रिया पर ही निर्भर नहीं रहता। मनन अथवा बौद्धिक क्रिया भी ज्ञान की अभिवृद्धि करता है जैसा कि हम गणित तथा दर्शन शास्त्र में देखते हैं।

(५) डीवी ने 'करके सीखने' पर बहुत बल दिया है। करके सीखने की विशेषता तो पशुओं की होती है किन्तु इसके विपरीत मनुष्य

[1] आदर्शवादियों में डीवी का सबसे कड़ा आलोचक हॉर्न है।

विचार अथवा मनन और इससे अधिक दूसरे के अनुभवों से सीखता है। महान सामाजिक उत्तराधिकार, सांस्कृतिक सम्पत्ति जिसका मनुष्य ने संचय किया है तथा कला, नैतिकता एवम् धर्म का प्राथमिक सिद्धान्त आदि का निर्धारण 'करके' या वैयक्तिक खोज अथवा प्रयोगों के आधार पर नहीं हो सकता वरन् इसका निश्चय तो दर्शनशास्त्र की विधि से होता है।

(६) डीवी में व्यक्ति को सामाजिक कार्य में रत करने की परोक्ष प्रवृत्ति पाई जाती है। उसने समूह के महत्व पर ही बहुत अधिक बल दिया है तथा व्यक्ति की महत्ता को बहुत ही कम कर दिया है।

(७) डीवी ने विद्यालय को बाल-केन्द्रित तथा समूह-केन्द्रित दोनों रूपों में निर्मित करने पर प्रकाश डाला है। क्या एक बाल केन्द्रित विद्यालय समूह केन्द्रित भी हो सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

डीवी का आधुनिक शिक्षा पर प्रभाव

यह तो निश्चित है कि भावी कुछ वर्षों में ही डीवी के सिद्धान्तों की अलोचना एवम् प्रशंसा शिक्षा के साहित्य को अत्यधिक समृद्ध कर देगा। अन्तिम निर्णय विद्वानों का चाहे जो कुछ भी हो किन्तु फिर भी विद्वान नैथेन्सन[1] के शब्दों में वर्णित सत्य की अवहेलना नहीं की जा सकती। उसने कहा है "हम देखते हैं कि डीवी के शिक्षा सम्बन्धी आन्दोलन ने हमारा मार्ग प्रशस्त कर दिया है।" डीवी ने अमेरिकीय शिक्षा के सिद्धान्त एवम् व्यवहार दोनों पर अपना अत्यंत स्वस्थ प्रभाव डाला है। किन्तु उसका प्रभाव केवल अमेरिकीय शिक्षा पर ही नहीं पड़ा है। डीवी के शिक्षा पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष

---

१ जे० नैथेन्सन—जॉन डीवी, दि रिकान्स्ट्रक्शन आफ डेमोक्रेटिक। लाइफ।

प्रभाव पर विचार करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण संसार में शायद ही कोई देश ऐसा हो जिस पर डीवी का प्रभाव नहीं पड़ा है।

डीवी ने ज्ञान के परम्परासम्मत स्थिर पुराने आदर्शों को चुनौती देकर शिक्षा को वर्तमान जीवन की वास्तविकताओं के समक्ष ला उपस्थित किया। उसने विद्यालय के जीवन एवम् क्रिया में मानव की विकासात्मक रुचि को प्रकाशित किया है। यह रुचि है बालकों के एक जीवित प्राणी के रूप में रुचि तथा वर्तमान सामाजिक कार्यों में रुचि। उसने ऐसी शिक्षा की रूप रेखा प्रस्तुत की है जिसमें रुचि का केन्द्र-विन्दु अध्यापक नहीं वरन् बालक है। पाठ्यक्रम का निर्देश बालक के क्रियाकलाप तथा रुचि द्वारा होता है। इस प्रकार की विधि में शिक्षा कठिन प्रयास एवम् कठोरता की अपेक्षा खेल के समान सुहावनी तथा खेलकूद प्रतियोगता की भाँति अत्यन्त रमणीय रूप में परिवर्तित हो जाती है। यद्यपि यह सच है कि बालक को शास्त्रीय ज्ञान की उपलब्धि कम होती है किन्तु वह अपने समाज से तथा समकालीन सभ्यता की समस्याओं से पूर्ण परिचित हो जाता है।

रचनात्मक क्रियाकलापों का आन्दोलन, सामाजीकरण पर महत्व तथा रुचि का सिद्धान्त आदि डीवी के महत्त्वपूर्ण योगदान हैं, यद्यपि ये पूर्ण रूपेण मौलिक नहीं है। स्कूल जीवन एवम् प्रशासन में प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों एवम् व्यवहारों के प्रयोग की सतत् रुचि भी डीवी की एक अन्य महत्वपूर्ण देन है। सम्भवतः डीवी की शिक्षा सम्बन्धी विशेष रूपेण अमेरिकीय शिक्षा सम्बन्धी सभी सेवाओं में से उसकी विचार करने की विधि को संगठित करने की सेवा सबसे महान है। विचार करने की प्रक्रिया के विश्लेषण के माध्यम से समस्या जनित शिक्षा तथा इससे निःसृत प्रयोजन (प्रोजेक्ट) पद्धति को डीवी ने अध्यापन विधि के रूप में उद्घाटित किया है। इस विधि का प्रभाव बहुत अधिक रहा है।

अमेरिका तथा अन्य स्थानों के प्राथमिक विद्यालयों को डीवी के

सिद्धान्तों के आधार पर पूर्ण रूपेण पुनर्निर्मित किया गया है। डीवी के, शिक्षा जीवन की प्रक्रिया के रूप में, क्रियाकलापों की योजना, रुचि का महत्त्व, सामूहिक जीवन, क्रियाकलापों पर निर्भर रहने वाले विषयों का अन्तर्सम्बन्धी आदि तन्निहित सिद्धान्तों का भी सहर्ष स्वीकार कर लिया गया है तथा इसका प्रयोग भी अनेक प्राथमिक विद्यालयों मे हुआ है। इसी प्रकार डीवी ने माध्यमिक स्तर के शिक्षा का भी पुनर्निमाण किया है। माध्यमिक स्तर पर कई स्थानों पर समस्या के आधार पर शिक्षा देने के लिए बल दिया गया है।

BIBLIOGRAPHY

ENGLISH BOOKS

(A) GENERAL

Encyclopedia Britannica.

Encyclopedia of Social Sciences.

Encyclopedia of Modern Education.

Adams : Evolution of Educational Theory; Modern Developments in Educational Practice.

Boyd : The History of Western Education.

Butts : A Cultural History of Education.

Cubberley : The History of Education.

Curtis & Boultwood : A Short History of Educational Ideas.

Duggan : A Students' Text Book in the History of Education.

Eby & Arrowood : Development of Modern Education.

Frost : The Basic Teachings of the Great Philosophers.

Good : A History of Western Education.

Graves : A Students History of Education; A History of Education (Before the Middle Ages)

Meyer : The Development of Education in the Twentieth Century.

Monroe : Text Book in the History of Education.

Ross : Groundwork of Educational Theory.

Runes : Treasury of Philosophy.

Rusk : The Philosophical Bases of Education; The Doctrines of the Great Educators; A Short History of Infant Education.

Smith : Ancient Education.

Ulich : History of Educational Thought.

Valentine : Twentieth Century Education.

Woody : Life and Education in Early Societies.

(B) SPECIFIC

Boyd : Introduction to the Republic of Plato

Livingstone : Plato and Modern Education.

Plato : Dialogues; Republic.

Tylor : Plato-the Man and his work.

Archer : Rousseau on Education.

Boyd : The Minor Educational Writings of Jean Jacques Rousseau; The Educational Theory of Jean. Jacques Rousseau.

Rousseau : Emile; The Social Contract and Discourses.

Anderson : Pestalozzi.

Green : Life and work of Pestalozzi.

Pestalozzi : Leonard and Gertrude; How Gertrude teaches her children; Letters on Early Education.

Adams : The Herbartian Psychology applied to Education.

Herbart : Outlines of Educational Doctrines; Science of Education.

Blow : Educational Issues in the Kindergarten.

Froebel : The Education of Man; Pedagogics of the Kindergarten; Education by development.

Kilpatrick : Froebel's Kindergarten Principles.

Kilpatrick : Montessori Examined.

Montessori : The Montessori Method, The Advanced Mantessori Method; The Secret of childhood; Education for a new world; To Educate the Human Potential.

Dewey : Democracy and Education; The School and Society; Schools of to morrow; Reconstruction in Philosophy.

Horne : The Democratic Philosophy of Education.

HINDI BOOKS

भाटिया तथा अग्रवाल : शिक्षा दर्शन

एम० के० अग्रवाल : शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त

सरयू प्रसाद चौबे : पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास

सीताराम जायसवाल : पश्चिमी शिक्षा का इतिहास

सीताराम चतुर्वेदी : शिक्षा प्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक